आशा है कि प्रस्तुत विवेचन जिस उद्देश्य को सामने रख कर लिखा गया है उसके लिए यह सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होगा। यहाँ तो केवल इतना कथन ही समीचीन होगा कि छात्रो की साहित्यिक रुचि के विकास में यदि लेखक की कृति सहायक सिद्ध हुई तो उसका यह श्रम सार्थक होगा।

—लेखक

क्रम

चन्द बरदाई

परिचय

पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द बरदाई के समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जनश्रुति के अनुसार चन्द दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामन्त और राजकवि प्रसिद्ध हैं।

प्रचलित है कि चन्द और पृथ्वीराज का जन्म लाहौर में एक ही दिन हुआ था और दोनों की मृत्यु भी गजनी में एक ही दिन हुई थी। स्वय चन्द ने रासो में इस वात की पुष्टि यह लिखकर की है—

इक दीह उपज, इक दीह समायकम्।

रासो के अनुसार चन्द और पृथ्वीराज का जन्म स० १२०५ विक्रमी में और मृत्यु ४३ वर्ष की अवस्था में सवत् १२४८ विक्रमी में हुई। रासो में दिये हुए इस समय को सभी विद्वान् तथा इतिहासकार स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। हां, इतना अवश्य निश्चित है कि पृथ्वीराज की मृत्यु ईसवी सन् ११६२ (संवत् १२४६) में हुई थी; परन्तु अन्य तथ्यो के अभाव में इसी जन्म-सवत् का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है।

रासो के अनुसार इनके पिता का नाम वेरण अथवा राव वेनू था। ये जगात गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे। विद्वानों के अनुसार ये भट्ट ब्राह्मण भाटो से सर्वथा भिन्न हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने नानूराम भाट से चन्द का जो वंशवृक्ष प्राप्त किया है उसका महात्मा सूरदास के वंश-वृक्ष से मिलान करने पर भी यही सिद्ध होता है कि चंद

सारस्वत ब्राह्मण थे, क्योंकि सूरदास को प्राय सभी विद्वानो ने सारस्वत ब्राह्मण स्वीकार किया है।

रासो के अनुसार अजमेर के चौहान चद के पिता राव बेनू के यजमान थे। इस कारण इनका पालन-पोषण अजमेर में ही हुआ। इस प्रकार बचपन से ही पृथ्वीराज से इनका मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। अत. इन्होंने अपनी वश-परम्परा के अनुसार शास्त्र-विद्या का तो अभ्यास किया ही, साथ ही शस्त्र-विद्या में भी पारङ्गत हो गये।

चन्द ने अपने जीवनकाल में दो विवाह किये। इनकी पहली पत्नी का नाम मेवा या कमला था और दूसरी पत्नी का नाम गौरी था। अपनी इन दो पत्नियो से कवि चन्द को दस पुत्र और एक पुत्री प्राप्त हुए। रासो में इनका उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कवि चद के सुदर रूप सुजान।
इक जल्ह गुन बावरो गुन-समुद ससभान॥

अपने पुत्र जल्हण की योग्यता देखकर ही कवि चद ने उसे पृथ्वीराज रासो के अन्तिम भाग को पूरा करने के लिए आज्ञा दी थी। इस बात की पुष्टि रासो से भी हो जाती है। वहाँ स्पष्ट लिखा है—

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

× × ×

रघुनाथचरित हनुमतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज सुजस कवि चद कृत चद-नद उद्धरिय निमि॥

उपर्युक्त पक्तियों से स्पष्ट है कि चद रासो का कार्य अपने पुत्र के हाथ में देकर स्वय पृथ्वीराज के कार्य से ग़ज़नी चला गया था। जनश्रुति और रासो के अनुसार शब्दवेधी बाण द्वारा पृथ्वीराज के हाथों शहाबुद्दीन को मरवाकर चन्द ने नृप-कार्य समाप्त किया और तदुपरान्त दोनों एक-दूसरे को मारकर इस ससार से विदा हो गये।

चन्द बरदाई पृथ्वीराज चौहान के केवल राजकवि ही नहीं अपितु

सखा और सामंत भी थे। ये षट्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालन्धरी देवी सिद्ध थी जिसकी कृपा से ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला-जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में सदा महाराज के साथ रहते थे तथा अन्य सभी बातों में ये सम्मिलित रहते थे। जिस व्यक्ति के साथ उनका जीवन इतना अभिन्न हो गया था उसी के कीर्ति-गान में कवि ने अपनी समस्त कवित्व-शक्ति लगा दी।

चन्द बरदाई की एकमात्र कृति, जिस पर उनका अपार यश आधारित है, पृथ्वीराज रासो ही है। इसी के आधार पर विद्वान् उन्हें हिन्दी का आदिकवि कहते हैं परन्तु यह निर्णय विवाद-रहित नहीं है।

पृथ्वीराज रासो की रचना उस काल में प्रचलित संवादात्मक शैली में हुई है। यद्यपि उसके प्रश्नकर्त्ता और श्रोता कई हैं तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि कवि ने इसे अपनी पत्नी गौरी को सम्बोधन कर सुनाते हुए लिखा था। रासो में कवि ने अपने चरितनायक पृथ्वीराज से जीवन की सभी घटनाओं का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। संक्षेपतः इसमें आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थान से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है।

पृथ्वीराज रासो की आलोचना

वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है जिसमे ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। परन्तु इसमें वर्णित घटनाओं और उल्लिखित संवतों के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का बिल्कुल भी मेल न होने के कारण अनेक विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। चंगेज, तैमूर आदि बाद के ऐतिहासिक नामों ने इस संदेह

की ओर भी पुष्टि की है।

रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विषय सर्वप्रथम डा० व्हूलर ने छेडा। रायल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से जब रासो का प्रकाशन हो रहा था तो काश्मीर में डा० व्हूलर को पृथ्वीराज के राजकवि जयानक का लिखा हुआ पृथ्वीराज-विजय नामक नाटक उपलब्ध हुआ और उसमें दी हुई घटनाओं तथा सन्-सवतों का मेल ऐतिहासिक तथ्यों से भी हो जाता था। अत डा० व्हूलर ने एशियाटिक सोसायटी को लिखकर रासो का प्रकाशन वन्द करवा दिया और उसे १६वीं शती की लिखी भट्ट-भणत ही स्वीकार किया।

डा० व्हूलर के उपरान्त प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायवहादुर पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझा जी ने अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इसे भाटों की कल्पना सिद्ध किया। ओझाजी के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' में दी हुई चौहानों की वशावली न 'विजोलिया' के शिलालेख (स० १२२६ में अकित) की वशावली से मिलती है, न 'पृथ्वीराज-विजय' नामक नाटक में दी हुई वशावली से और न 'हम्मीर-काव्य' (स० १४६०) से ही। उनका कहना है कि 'पृथ्वीराज-विजय' और 'हम्मीर-काव्य' आदि प्रामाणिक रचनाओं के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी था परन्तु रासोकार ने पृथ्वीराज की माता का नाम कमला दिया है—ऐसी भूल पृथ्वीराज का समसामयिक कवि नहीं कर सकता।

रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहन प्रथाकुँवरि का विवाह मेवाड के राजा समरसिंह के साथ हुआ था। रासोकार के अनुसार राजा समरसिंह पृथ्वीराज के पक्ष में गोरी से युद्ध करता हुआ मारा गया था, किन्तु ऐतिहासिक खोजो से यह पता चलता है कि समरसिंह के समय का प्रथम शिलालेख स० १३३० का और अन्तिम स० १३५८ का है। अत यह स्पष्ट है कि समरसिंह पृथ्वीराज की मृत्यु के वाद कम-से-कम १०६ वर्ष तक जीवित रहे।

रासो में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का गुजरात के राजा भीम द्वारा मारा जाना लिखा है, और साथ ही यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज ने वदला लेने के लिए गुजरात पर चढ़ाई करके भीम को मारकर उसके राज्य का कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया; किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों और शिलालेखों के आधार पर यह भी असत्य सिद्ध होता है।

पृथ्वीराज के विवाहों की कल्पना भी झूठी जान पडती है ; क्योंकि रासो के अनुसार पृथ्वीराज ने ११ वर्ष की अवस्था से ३६ वर्ष की अवस्था तक १४ विवाह किये। परन्तु पृथ्वीराज ३० वर्ष ही जीवित रहे, अतः ऐसी अवस्था में यह कल्पना सम्भावित की कोटि में नहीं आती।

सयोगिता-विवाह का प्रसंग भी किसी इतिहास अथवा शिलालेख से सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त रासोकार का पृथ्वीराज के हाथों से गौरी को मरवाना भी इतिहास-विरुद्ध है; क्योंकि इतिहासानुसार वह सं० १२६३ में गक्खरों के हाथो मारा गया।

इन सभी तर्कों के आधार पर ओझाजी ने रासो को एक जाली ग्रंथ ठहराया है। इतना ही नहीं, उन्होंने पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक किसी कवि के होने में भी सन्देह किया है; क्योंकि 'पृथ्वीराज-विजय' के रचयिता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या वन्दिराज का नाम 'पृथ्वी भट्ट' लिखा है। पृथ्वीराज-विजय के पांचवें सर्ग में यह श्लोक आया है—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
सग्रह यस्सुवृत्ताना सुवृत्तानामिव व्यधात्॥

इसमें यमक के द्वारा जिस चन्द्रराज कवि का संकेत है वह ओझाजी के अनुसार 'चन्द्रक' कवि है, जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है। इन दो विद्वानों के अतिरिक्त कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारीराज और कुछ-कुछ आ० रामचन्द्र शुक्ल भी इसी मत के हैं।

अन्य विद्वान् ऐसे भी हैं जो रासो को जाली ग्रथ नहीं मानते। इन विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्यो से मेल न खानेवाले सवतो को ठीक विठाने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग सोचे। प० मोहनलाल विष्णुलाल पड्या ने रासो के पक्षसमर्थन में आनन्द-सवत् की कल्पना की। उन्होने इस वात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब सवतो में यथार्थ सवतों से ९०-९१ वर्ष का अतर एक नियम से पडता है। उनके अनुसार यह भूल नहीं है, वल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिये हुए उन्होने रासो के इस दोहे को पकडा—

एकादस सै पचदह विक्रम साक अनद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद ॥

और 'विक्रम साक अनन्द' का अर्थ किया—अ=शून्य और नन्द=९ अर्थात् ९० रहित विक्रम सवत्। परन्तु ९० घटा देने से भी सभी सवत् ठीक नहीं वैठते। इसके अतिरिक्त राजस्थान के जितने भी इतिहास आज तक लिखे गये हैं उनमें से किसी में भी आनन्द सवत् का उल्लेख नहीं है।

इधर उदयपुर के कविराज मोहनसिह ने रासो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक दूसरा ही उपाय सुझाया है। उनका कहना है कि रासोकार ने अपने द्वारा प्रयुक्त छदो की जाति के बारे में स्वय ही लिखा है—

छद प्रवध कवित्त यति, सारक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मडित खडि यह, पिंगल अमर भरत्थ।

अर्थात् (मेरे प्रवन्ध-काव्य रासो में) कवित्त (षट्पदी), साटक (शार्दूलविक्रीडित), गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्त प्रयुक्त हुए हैं जिनमें मात्रादि-नियम पिंगलाचार्य के अनुसार हैं और सस्कृत (अमर-वाणी) के छद भरत के मतानुकूल हैं।

इस प्रकार कविराज जी का मत है कि यही-चार छंद रासो के मूल छद हैं, वाकी सभी प्रक्षिप्त हैं। परन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि प्रक्षेप करनेवालो ने इन चार छदो का प्रयोग नहीं किया होगा।

इन दो दलों के अतिरिक्त एक तीसरा दल ऐसा भी है जो रासो को सर्वथा जाली नहीं मानता। उनके अनुसार रासो का रचयिता चन्द ही था और उसने पृथ्वीराज का जीवन-चरित लिखा, परन्तु आज यह चरित अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं होता है। पुरातन प्रवन्ध-सग्रह में चद के कुछ छन्दो के उपलब्ध हो जाने पर इन मत वालों को और भी पुष्टि मिली है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा है कि "अव यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें वहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा।"[1]

अव प्रश्न यह है कि इस प्रक्षिप्त रासो में से उसका असली रूप कैसे प्राप्त किया जाय। प्रक्षिप्त अशो को अलग करने के लिए कविराव मोहनसिंह ने जो सुझाव उपस्थित किया है उसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस दिशा में अपना जो सुझाव रखा है वह भी विचारणीय है। इनका विचार है कि चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी के सवाद के रूप में लिखा गया था। अपने आदिकाल के इतिहास में उन्होने स्पष्ट कहा है—"सच पूछिए तो मैं यह वात आप से छिपाना नहीं चाहता कि यह वात मेरे मन में समाई हुई है कि चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-सवाद के रूप में लिखा गया था। और जितना अश इस सवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है।"[2]

१. हिन्दी-साहित्य का आदि काल—पृ० ५०

२ हिन्दी-साहित्य का आदि काल—पृ० ६३

इसी आधार पर उन्होंने रासो के वास्तविक अंशों को छाँटने की भी चेष्टा की है।[1]

जो भी हो, परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि रासो में चन्द वरदाई की रचना भी सम्मिलित है। अत. प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के वाद-विवाद द्वारा विद्वानो ने जो दुस्तर फेनराशि तैयार कर दी है-उसे अब साफ करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

अभी तक रासो को केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही परखने की चेष्टा हुई है। परन्तु भारत में ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम पर जितने काव्य लिखे गये उनमें कल्पना का कितना हाथ रहता था उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। "भारतीय कवियो ने ऐतिहासिकता का नाम-भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम, कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम, सम्भावनाओ की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम।"[2] इस प्रकार इस शैली में इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पडा था।

रासो में स्थान-स्थान पर प्राप्त होनेवाले काव्य-सौन्दर्य में जो हृदय को रमाने की शक्ति है वह स्पष्ट ही किसी रस-सिद्ध कवि का संकेत करती है। अत. इसे केवल भट्ट-भणन्त कहना उचित नहीं है।

रासो में कवि का प्रतिपाद्य विषय अपने चरित-नायक पृथ्वीराज की शूरवीरता का सविस्तार वर्णन है। अत स्पष्ट है कि रासो का मुख्य रस वीर ही है। इस वीर रस का रासो में शृङ्गार की पृष्ठभूमि पर जो निखारा हुआ है वह अत्यन्त उच्चकोटि का है। रासो की प्राय सभी घटनाएं इन्हीं दो रसों से सम्बद्ध हैं। परम्परा-पालन के लिए कवि ने

१ देखिए 'हिन्दी-साहित्य'

२ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृ० ६०

जहां षड्ऋतु का वर्णन किया है वहां भी कवि ने नायिका को सम्मुख ला बिठाया है। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज एक बार परदेश जाना चाहते हैं अतः वे अपनी रानियों से विदा लेना चाहते हैं परन्तु प्रत्येक रानी उन्हें यह कहकर कि यह ऋतु बाहर जाने की नहीं है—अपने पास ही रोक लेती है। और कवि चन्द इसी बहाने रानी के मुंह से ऋतु का वर्णन करवा देते हैं। इस प्रकार छः रानियो के पास छः ऋतुएँ व्यतीत हो जाती हैं।

रासो में जहां वीर रस के परिपाक के लिए पर्याप्त सामग्री है वहां शृङ्गार के परिपाक लिए भी। पद्मावती-समय में ही शुक से पृथ्वीराज के आने का सदेश सुनकर पद्मावती की जो दशा होती है उसका कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

सदेश सुनत आनन्द नैन।
उमगोय बाल मनमथ्थ सैन॥
तन चिकट चीर डार्‌यो उतार।
मडन मयक नव सत सिंगार॥

रति स्थायीभाव के उद्‌बुद्ध होने पर किसी नायिका की जो दशा होती है वही इन पक्तियों में पद्मावती की वर्णित है। अतिम दो पक्तियां स्पष्ट ही रति के उद्‌बुद्ध होने के उपरान्त होनेवाले अनुभवों की ओर सकेत कर रही हैं। इसके उपरान्त जब वह पृथ्वीराज को देखकर लाज और मनोज के हिडोले में झूलने लगती हैं तब का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

फिर देपि देपि प्रथिराज राज।
हँसि युद्ध मुद्ध चर पट्ट लाज॥

यहां सचारीभाव स्पष्ट सचार करते हुए प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने नायक और नायिका का रूप वर्णन करके उद्दीपन

विभाव की सामग्री भी सुसज्जित कर दी है। शुक के मुख से पृथ्वीराज का यह रूप-वर्णन सुनकर—

कामदेव अवतार हुआ, सु सोमेश्वर नद।
सहस किरन झलकत कमल, रति समीप पर विंद।

यदि पद्मावती की यह दशा हो जाती है कि उसका 'तन मन चित्त चहुँआन पर' बस जाता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इस प्रकार कवि ने रासो में शृङ्गार रस की सभी आवश्यक सामग्री का उल्लेख किया है।

रस—रासो में शृङ्गार रस का स्थान मुख्य नहीं है जैसाकि हमने ऊपर भी सकेत किया है वह वीर रस की पुष्टि में ही सहायक होता है। कवि का उद्देश्य अपने नायक की शूरवीरता का वर्णन था और कन्या-अपहरण अथवा किसी राजकन्या के चाहने पर अड़चन होने पर भी उसको ब्याहना आदि भी उसी शूरवीरता-वर्णन में सहायक है। अत कवि ने लगे-हाथों शृङ्गार रस की भी सामग्री उपस्थित कर दी। इस लिए रासो में शृङ्गार रस का स्थान गौण और वीर रस का स्थान मुख्य है।

वीर रस में आश्रय विभाव पृथ्वीराज या उसके मुख्य सामन्त हैं और पृथ्वीराज के शत्रु ही आलम्बन विभाव हैं। दोनों सेनाओं का विभिन्न शस्त्रास्त्रों सहित वर्णन ही उत्साह स्थायीभाव को उद्दीप्त करने की सामग्री है। रासो के पद्मावती-समय में ही शहाबुद्दीन की सेना का यह वर्णन—

पुरासान सुलतान, कधार मीर।
बलप स्यौ वल, तेग अच्चूक तीर॥
सहगी, फिरगी, हलब्बी, स मानी।
ठटी टट्ट वल्लोच, डाल निसानी॥

इसी प्रकार का है।

शत्रु के सम्मुख आ उपस्थित होने पर जब पृथ्वीराज के हृदय में उत्साह स्थायीभाव उद्बुद्ध हो जाता है तब उसका इस प्रकार युद्ध करना—

उट्ठिराज प्रथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढत तेग मन वेग लगत मनों वीजु झट्ट घट॥

स्पष्ट ही अनुभावों का द्योतक है। आगे जब कवि कहता है कि रक्तरंजित पृथ्वी को देखकर—

'हरि हरपि वीर जग्गे हुलसी हुरवरंग नवरत्त वर'

तो यहां हर्ष संचारी भाव सचरण करता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार रासो में वीररस के परिपाक के लिए हमें पूरी सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

रासो में प्रकृति का स्वतन्त्ररूपेण कोई स्थान नहीं है। उसका प्रयोग कवि ने उद्दीपन के लिए ही किया है। चाहे यह उद्दीपन की सामग्री शृङ्गार के लिए हो अथवा वीर रस के लिए, परन्तु इतना अवश्य है कि जहाँ कवि उस वर्णन में तन्मय हो गया है, वहाँ वर्णन स्वतन्त्र-रूप से वर्णित प्रकृति-वर्णन से किसी प्रकार कम मनोहारी नहीं है। वर्षा ऋतु का यह वर्णन—

द्रिग भरत घूमिल जुरति भूमिल कुमुद भ्रिम्मल सोभिल।
द्रुम अग वल्लिय सीस हल्लिय कुरलि कठह कोकिल॥
कुसमज कज सरीर सुम्भर सलित दुम्भर सद्दय।
नद रोर दद्दुर मोर नद्दुर वनसि वद्दरि वद्दय॥
झम झमकि विज्जल काम किज्जल श्रवनि सज्जल कद्दय।
पप्पीह चीहती जीह जजरि मोर मजरि मद्दय॥
जगमगति झिगन निसि सुरगन भय अभय निसि हृद्दयं।
मिति हस हसि सुवास सुदरि उरसि आनन मिद्धय॥

हमारे उपर्युक्त कथन का पुष्ट प्रमाण है।

यह वर्षा-वर्णन इतना सुन्दर है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इसकी चर्चा करते हुए कहा—"चन्द वरदाई का यह वर्षा-वर्णन भाषा और भावध्वनि दोनों ही दृष्टियो से बहुत उत्तम हुआ है। अनुकूल ध्वनियो का ऐसा समजस विधान है कि देखते ही बनता है।"

केवल उद्दीपन के लिए ही नहीं, कवि ने प्रकृति का वर्णन पृष्ठभूमि-अलङ्करण, मानवीकरण आदि अन्य दृष्टियो से भी किया है। प्रात काल का यह वर्णन—

भव प्रात रत्तिय, जुरत दीसय, चद मदय चदयौ।
भर तमस तामस, सूर वरभरि, रास तामस छदयौ॥

प्रकृति की पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त होने का ही सूचक है। नायिका के रूप-वर्णन में जब कवि उसके अगों की तुलना—'हीर कीर अरु बिम्ब मोति नष सिष अहि घुट्टिय' कहकर देता है तो यह उसकी अलकरण की प्रवृत्ति का सूचक है।

भाषा—

रासोकार का मुख्य उद्देश्य—जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है—पृथ्वीराज की शूरवीरता का वर्णन था। अत इस अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने सदा ही अपनी भाषा को ओजस्वी बनाने की चेष्टा की है। युद्ध में जिस प्रकार वीर को तीखे तीरों की मार सहकर भी एक प्रकार का उत्साह प्राप्त होता है उसी प्रकार चन्द की महाप्राणात्मक शब्दावली सुनकर भी हृदय उत्साह से भर उठता है। इसलिए कवि ने जान-बूझकर रस के अनुकूल भाषा रखने के लिए "उछार्‌यो, पछार्‌यो" आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उसकी शब्दावली आपको प्रायः आकारात्मक ही मिलेगी। राम-रावण-युद्ध के समय की यह उक्ति—

परि कुभ धरदा, बान चलदा, राम कहदा, मारदा।
धर रावन रुदा, करैति सदा, लक्खै जदा, दीसदा॥

स्पष्ट ही इस बात की सूचक है। इस उक्ति से कवि की भाषा की एक और विशेषता भी लक्षित होती है—और वह है अनुस्वारात्मिकता। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण छन्दोनुरोध से शब्दान्तर्गत तथा शब्दान्त में लघु व्यंजन को दीर्घ करना है। छन्द-पूर्ति के लिए कवि ने दीर्घीकरण अन्य उपायों से भी किया है। 'निसान' शब्द का 'नीसान' इसी प्रवृत्ति के कारण ही हुआ है।

इसके अतिरिक्त रासो की भाषा में 'मनोहर' के स्थान पर 'मनोहरय' के द्वारा स्वार्थक प्रत्ययों के प्रयोग की प्रवृत्ति, 'गति' का 'गत्ति' और 'मानव' का 'मानव्व' हो जाने से द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति और 'धर्म' के लिए 'ध्रम्म' में छन्द-पूर्ति के लिए रेफ के मनमाने परिवर्तन की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

साधारण रूप से चन्द वरदाई की भाषा में संस्कृत तत्सम, अपभ्रंश तत्सम, अपभ्रंश तद्भव, अनुकरणात्मक और देशी तथा अरबी-फ़ारसी के तत्सम और तद्भव शब्द प्राय. मिल जाते हैं। मूलत. रासो की भाषा डिंगल मानी जाय अथवा पिंगल, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है परन्तु आधुनिक रूप में रासो की भाषा बिल्कुल अव्यवस्थित है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने भी कहा है—"भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है।"

इतना होने पर भी यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि रासोकार काव्य-कला के मर्मों से पूरा अभिज्ञ था। उन स्थलो पर जहाँ कवि ने जमकर किसी विषय का वर्णन किया है वहाँ उसकी शब्दावली में भाषा और भाव-ध्वनि दोनो का सामंजस्य दृष्टिगत होता है।

कवि ने अपनी प्रौढता भाषा में ही नहीं, लक्षणा-व्यंजना आदि शक्तियो के प्रयोग में भी दिखाई है। कहीं-कहीं तो उसने प्रतीकात्मक

शब्दों का भी प्रयोग किया है। उदाहरणत. निम्न पक्तियों में 'वसन्त' शब्द का प्रयोग यौवन के अर्थ में हुआ है—

वैंसी विती सिसुता सकल, आगम कियो वसंत।

अलकार-योजना—

रासो में अलकारो की भी अद्भुत छटा है। अपने वर्णन में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य-अलकारो का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। नायिका के कटाक्ष पर कवि द्वारा की गई उत्प्रेक्षा देखिए—

कर्न प्रयन्त कटाच्छ मुरग विराजही।
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजही।
नैंन सैंन में बात जु स्रवनन सो कहै।
कान किधौ प्रथिराज भेदि करि ना लहै।

यह उत्प्रेक्षा विल्कुल स्वाभाविक होने के साथ-ही-साथ मनोहारी भी है। इसी प्रकार लाल अँगुलियों का यह वर्णन—

अगुरिन लगि रगि चलत लाल, सर मद्धि उठत गज हस बाल।

भी अत्यन्त सुन्दर है।

समग्र रूप से देखने पर यह कहा जा सकता है कि रासो सुन्दर काव्य है, परन्तु इसे निर्विवाद रूप से महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, यद्यपि महाकाव्य के लिए आवश्यक सभी उपकरण (भारतीय और पाश्चात्य मापदण्ड के अनुसार) प्राय उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु फिर भी कुछ विद्वानों का मत है कि यह भाटों की कल्पना मात्र है। इसे महाकाव्य की कोटि में रखना उचित नहीं। फिर भी यदि इस रूढ मत को छोडकर विचार किया जाय तो हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस ग्रथ से तत्कालीन भावनाओं और जातीय आदर्शों का अच्छा परिचय मिल जाता है। ऐसी अवस्था में यदि रासो को विकासशील महाकाव्य (Epic of growth) कहा जाय तो अनुचित न होगा।

बहुत दिनों के वाद-विवाद के उपरान्त आज के विद्वानो ने चन्द का अस्तित्व कवि के रूप में स्वीकार कर लिया है। चाहे उन्होंने उसे अपभ्रंश का अन्तिम कवि माना हो अथवा हिन्दी का आदिकवि, परन्तु उनकी गणना उन्हीं रससिद्ध कवियो में होती है जिनके लिए कहा गया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वरा. ।

महात्मा कबीर

परिचय

कबीर साहब के जन्म-मरण की निश्चित तिथि अब भी एक विवाद का विषय है। कुछ सफल आलोचकों ने कबीर-साहित्य से कुछ ऐसी पंक्तियों को, जिनसे उनके जन्म और मृत्यु-काल के विषय में संकेत मिलता है, संग्रह कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की है परन्तु वे भी भ्रामक और अप्रामाणिक हैं। यद्यपि कबीर के जन्म-मरण के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता फिर भी अनुश्रुतियों को आधार मानकर यह कहा जाने लगा है कि कबीर साहब का जन्म १४५५ या १४५६ में हुआ होगा। सम्प्रदाय में माना जाता है कि—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए॥

अर्थात् कबीर का जन्म सं० १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ था। परन्तु गणना से ज्येष्ठ पूर्णिमा को इस वर्ष सोमवार नहीं पड़ता। इसलिए विद्वानों का विचार है कि कबीर का जन्म सं० १४५६ अर्थात् सन् १३९९ ई० में हुआ था।

इनकी जाति के विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, जिसने सामाजिक भय से काशी में लहरतारा तालाब के पास इन्हें फेंक दिया था। वहाँ नीरू और नीमा नामक जुलाहा-दम्पती ने इन्हें प्राप्त किया और पाल-पोसकर बड़ा किया।

कबीर साहब की मृत्यु-सम्वत् का भी कुछ ठीक-ठीक पता नहीं है परन्तु साधारण रूप से यह मान लिया गया है कि कबीर की मृत्यु सं० १५०५ में हुई होगी।

इस प्रकार ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उनके जीवन-काल का अधिकांश विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में व्यतीत हुआ होगा। कबीर स्वभाव से ही 'ब्रह्मविचार' से ओतप्रोत एक सन्त व्यक्ति थे। उनके आविर्भाव-काल से पूर्व ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की दो परम्पराएँ प्रचलित थीं—एक तो नाथपंथियों की हठयोग-साधना की परम्परा विद्यमान थी, दूसरी स्वामी रामानन्द द्वारा प्रचलित भक्ति-साधना की परम्परा। भारतीय ब्रह्मवाद की इन दो परम्पराओं के अतिरिक्त सूफियों का भावात्मक रहस्यवाद कुछ कम महत्त्वपूर्ण न था। सूफियो के ससर्ग से ही उन्होंने यह सीखा कि ब्रह्म केवल उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर किसी एक परम्परा से ही सलग्न न थे। उनकी विचारधारा में उस काल की प्रचलित सभी परम्पराओ का पुट मिलता है। इन्होंने किसी नई साधना-पद्धति का प्रचलन नहीं किया बल्कि मधु-मक्खी की भाँति सभी प्रचलित मतो के मूल तत्त्वो का रस निचोडकर एक नया छत्ता तैयार किया। विविध धर्म-साधनाओ और मनोभावनाओं से इनके पथ को बल मिला और समन्वय की भावना से पुंजीभूत होने के कारण यह पंथ शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया। कबीर की इस गुणग्राही प्रवृत्ति को डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बड़े प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—"सयोग से वे (कबीर) ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम विविध धर्म-साधनाओ और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं : कबीर ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ से एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनो ओर देख सकते थे और

परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।"

कबीर कुछ पढे-लिखे व्यक्ति न थे। उनके निरक्षर होने का प्रमाण 'कबीर बीजक' की एक साखी द्वारा इस प्रकार मिलता है —

मसि कागद छूयो नही, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई वात॥

अर्थात् न तो मैंने लेखनी हाथ में ली और न कभी काग़ज़ और स्याही का ही स्पर्श किया, चारों युगों की वातें मैंने केवल अपने मुख द्वारा जता दी हैं। परन्तु उनका हृदय मनोभावो और ब्रह्मविचार से आलोडित हो रहा था जिसे उन्होंने अपनी सधुक्कडी भाषा में व्यक्त किया। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसे साहित्य का सृजन किया जिसे सन्त-साहित्य का नाम दिया गया।

कबीर और संत-काव्य की परम्परा

कबीर साहब के समय से सन्त-काव्य की परम्परा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगी। यद्यपि अस्पष्ट रूप से इस काव्य की परम्परा कबीर से पहले भी विद्यमान थी परन्तु उनके आविर्भाव-काल से इसे विशेष बल मिला और यह पुष्ट होती हुई दिखाई पडी। इससे पूर्व हिन्दी-कविता में शास्त्रीय नियमों का उल्लघन काव्य की दृष्टि से दोषयुक्त समझा जाता था। विद्यापति, जयदेव आदि पूर्ववर्ती कवि केवल भाषा-सौंदर्य को ही काव्य में महत्त्व देते थे। विद्यापति ने अपनी अपभ्रंश रचना 'कीर्तिलता' के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया है—

वालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ईरिगच्चइ नाअर मन मोहइ॥

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी भाषा दोनों एक समान सुन्दर

हैं, जिस कारण दुर्जन लोग इसकी हँसी नहीं उड़ा सकते। वह (चन्द्रमा) शंकर भगवान् के सिर पर शोभित होता है और यह (मेरी भाषा) सदा नागरिको का मन मोह लिया करती है। इस प्रकार विद्यापति भाषा-सौंदर्य को काव्य की प्रशसा का आधार मानते थे।

कबीरदास के सामने भाषा सँवारकर काव्य-सौष्ठव लाने का प्रश्न न था। उन्हे अपनी आत्मानुभूतियो को व्यक्त करने की लालसा थी। उन्होने अपने हृदय के गीत गाये। वे गीत गीत-शास्त्र के नियमों से बोझिल न हुए। उनके हृदय-राग का स्रोत गीत के राग के स्रोत के रूप में प्रसूत हुआ। अत. उनके गीतो में हृत्तन्त्री को झनझना देने की क्षमता है; आत्मानुभूति और गीतो का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

> तुम्ह जनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
> केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
>
> (कबीर ग्र० पृ० ८९)

अर्थात् मेरे इस पद को तुम साधारण गीत के रूप में न देखो। इसमें मेरा अपना ब्रह्म-विचार निहित है। इसमे मैंने अपनी आत्म-साधना का सार भरकर उसे अपने शब्दो द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। कबीर अपनी इस चेष्टा में पूर्ण सफल हुए।

कबीर का प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन ही था अतः अपनी कथन-शैली में उन्होने पिगल, भाषा, व्याकरण, रस, अलकारादि नियमो की उपेक्षा भी की। यद्यपि उनका काव्य शुद्ध भाव-प्रधान ही था, फिर भी उनकी रचनाओ में उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण सहज ढग से आ गये हैं।

कबीर की अनुभूति में जिस प्रकार एक विलक्षण दैवी शक्ति थी उसी प्रकार उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था। उनकी कथन-शैली में स्वच्छन्दता थी, स्पष्टवादिता थी और एक ऐसे व्यग्य का भी पुट रहा करता था जो

श्रोताओं के ऊपर सीधी चोट पहुँचाता था। कबीरदास ने सासारिक विडम्बनाओं का सूक्ष्म अवलोकन किया था। अपनी व्यग्यात्मक शैली के सहारे इसकी असारता पर बल देने में वे पूर्ण समर्थ हुए। इन्होंने सिद्धो, मुनियों एव नाथपथियों की भाँति सर्वजन-सुलभ प्रतीकों का सहारा लेने तथा जन-भाषा में ही सब-कुछ कह डालने की प्रणाली को अगीकार किया। गूढ़तम बातो को भी वे एक प्रकार की 'सध्या-भाषा' में व्यक्त कर डालते थे।

इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति की कविता के अतिरिक्त एक नई काव्य-शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने तक ही सीमित रही। सन्त-काव्य उस काव्य-रचना की ओर सकेत करता है जो मानव-समाज की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित है। इस काव्य की भाषा के ऊपर किसी व्याकरण-शास्त्र का नियत्रण न था। इस काव्य-रूप की व्यवस्था में छन्दोनियमों का दबाव न था। इसमें कविता स्वाभाविक रूप से विकास पाती है। काव्य-सौष्ठव प्रदर्शित करने के लिए किसी रस या अलकारादि सम्बन्धी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं थी। कबीर की रचनाएँ इसी काव्य-परम्परा की द्योतक हैं। प्रसिद्ध लेखक परशुराम चतुर्वेदी सन्त-काव्य की इस परम्परा को 'प्रकृत-काव्य' की परम्परा से उद्‌भूत हुई मानते हैं। [देखिए . कबीर-साहित्य की परख, पृष्ठ १८]।

सन्त-काव्य शीघ्र ही लोकप्रिय बन गया। इसकी लोकप्रियता काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जन-साधारण के अग बने कवियों की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जन-साधारण की भाषा है। उसमें साधारण जन-सुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जन-जीवन को स्पर्श करता है।

कबीर की साहित्य साधना—

कबीर कोई बहुत बडे साहित्यिक नहीं थे। काव्य के अनुसार जितने भी विभाग हो सकते हैं उतने विभाग कबीर के सामने रखिए, किसी

विभाग में भी कबीर नहीं आ सकते। बात यह नहीं है कि कबीर में उन विभागों में आने की क्षमता ही नहीं है पर बात यह है कि उन्होंने उनमें आना स्वीकार ही नहीं किया। उन्होंने साहित्य के लिए नहीं गाया, किसी कवि की हैसियत से नहीं लिखा, चित्रकार की हैसियत से चित्र नहीं खींचे। जो कुछ भी उस रहस्यवादी के हृदय से निकला वह इस विचार से कि अनन्त शक्ति एक सत्पुरुष का सन्देश लोगो को किस प्रकार दिया जाय, उस सत्पुरुष का व्यक्तित्व किस प्रकार प्रकट किया जाय, ईश्वर की प्राप्ति के लिए किस प्रकार लोगों से भेद-भाव हटाया जाय, 'एक बिन्दु से विश्व रचो है को बाम्हन को सूद्रा' का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाय, सत्य की मीमांसा का क्या रूप हो सकता है, माया किस प्रकार सारहीन चित्रित की जा सकती है।

इस प्रकार कबीर-साहित्य समन्वय की भावना से प्रेरित होता है। समन्वय से तात्पर्य दो या उससे अधिक विभिन्न बातों के बीच एक ऐसी समानता का प्रतिपादन करना होता है जिसके कारण उनमें पारस्परिक विरोध का अभाव सूचित होने लगे और वास्तविक एकता भी सिद्ध की जा सके। कबीर का जन्म ऐसे काल में हुआ था जब धार्मिक और सामाजिक विषमता कटुतर होती जा रही थी, हिन्दुओं तथा मुसलमानो की विचार-धारा में संघर्ष बढ़ने लगा था। यह सघर्ष केवल दो वर्गों की विचार-पद्धति के मतभेद तक ही सीमित न था। उनके भीतर भी विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों एव 'फिरकों' की प्रवृत्तियां काम कर रही थीं। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, शाक्त जैसे कई सम्प्रदाय विभिन्न देवताओं को इष्ट मानकर बन गये थे, योगी, यती, संन्यासी जैसे अनेक वेशधारियों के वर्ग अपने-अपने ढग का प्रचार कर रहे थे, और ऐसे पंथ भी अनेक मार्गों में विभक्त होते जा रहे थे। ऐसे मतो के बीच वैसी कटुता का वर्ताव न होने पर भी धर्मान्धता की प्रवृत्ति का बढ़ते जाना अवश्यम्भावी था। यह किसी प्रकार भी हितकर न था और न इसके कारण देश में कभी शान्ति तथा एकता

का कोई स्वप्न भी देख सकता था।

उस समय की उपर्युक्त धार्मिक मनोवृत्ति का प्रभाव लोगो के सामाजिक सगठन के विभिन्न पहलुओं पर भी स्पष्ट दीख पडता था। विभिन्न जातियो में भेद-भाव की कटुता दिनोंदिन बढती जा रही थी। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की बातों को हेय और अपने मन्तव्यों को ही श्रेयस्कर सिद्ध करने में लगा था।

इन निर्मूल विषमताओ को देख कबीर का मन तिलमिला उठा था। उन्हें यद्यपि कोई दार्शनिक शिक्षा नहीं मिली थी, उन्हें किसी धार्मिक महापुरुष के यहाँ से कोई सुव्यवस्थित सुझाव भी उपलब्ध न हुआ था जिसे आधार मानकर वे उक्त बातों पर विचार कर सकते। प्रसिद्ध है कि वे निरक्षर भी थे परन्तु समय की परिस्थिति के सम्यक् निरीक्षण तथा पहचान की उनमें अच्छी योग्यता थी और उससे निकाले गये निष्कर्षो को सतसग एव आत्मचिन्तन की कसौटी पर परखने में भी वे अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने अपने समक्ष की बातो को देखकर निर्धारित किया—

जो अमासो आनवै, कल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियाँ सो ढहि पडे, जो आया सो जाय ।।

अर्थात् ससार की सभी वस्तुएँ अस्थिर एव नाशवान् हैं। इनमें स्थायित्व नहीं है और इसी कारण इनमें से किसी को भी सत्य मानकर उसे महत्त्व देना उचित नहीं। सत्य वही हो सकता है जो शाश्वत एवं चिरन्तन हो और जो सदा अद्वैत तथा एक समान अर्थात् केवल एकमात्र एव अधिकृत भी रहता हो। इस दृष्टि से विचार करने पर किसी भी सच्चे धर्म का इष्ट कोई नाशवान् व्यक्ति वा 'काया काची मन अथिर' वाला साकार पुरुष नहीं हो सकता। उस एकमात्र सत्य से अनेक की अल्पकालीन वा दीर्घकालीन सृष्टि सम्भव है, किन्तु मूल-तत्त्व तो निरन्तर ज्यों-का त्यों रहेगा।

इस प्रकार कवीर साहव के 'समन्वयवाद' की आधारशिला परम तत्त्व के केवल, नित्य तथा एकरस होने, उसपर आश्रित वहुरूपिणी सृष्टि के अस्थिर होने और उसके विविध अंगों के, उनकी मौलिक एकता के कारण एक समान सिद्ध होने पर स्थित है। इसी कारण उन्हे अधिक तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इष्टदेव के विभिन्न नामो के विषय में वे कहते हैं—

जो पै करत वरण विचारै,
तौ जनमत तीनि डाडि किन सारै ॥
उतपति व्यद कहाँ थैं आया,
जोति धरी अरु लागी माया ॥
नहि को ऊँचा नहि को नीचा,
जाका प्यड ताही का सीचा ॥
तूं वांभन वंभनी जाया,
तौ आन वाट ह्वै काहे न आया ॥
जे तूं तुरक तुरकनी जाया,
तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया ॥
कहै कवीर मधिम नहि कोई।
सो मधिम जा मुखी राम न होई ॥
(कवीर-ग्रन्थावली पद ४१, पृ० १०२)

इसी प्रकार—

हमारे कैसें लोहू तुम्हारे कैसें दूध, तुम्ह कैसें वाम्हण कैसें सूद
छोति करता तुम्ह ही जाए, तौ ग्रभवास कहे को आए। आदि

इन पदों में जातीय विषमता की निराधारिता पर कठिन व्यग्य है। उनके इस कहने में कि 'सभी मनुष्य एक ही मानव-समाज के अंग हैं, कितनी व्यंग्य-भरी मस्ती है। मानव-सृष्टि में वाह्याचारों के अनुसार अनेकता होते हुए भी उनके मूल में एकता है, समता है। इस कारण एक-

दूसरे को पृथक् वा ऊँच-नीच समझना भूल है। इसी सत्य पर कबीर का 'समन्वयवाद' स्थिर है, उनका समस्त साहित्य इसी समन्वय की ओर सचेष्ट है।

कबीर मुख्य रूप से भक्त थे। वे उन निरर्थक आचारों को व्यर्थ समझते थे जो असली बातो को ढँक देते हैं और झूठी बातों को प्राधान्य दे देते हैं।

कबीर-साहित्य मे सौन्दर्य-भावना—

साधारण रूप से सौन्दर्य-भावना का लगाव हमारी इन्द्रियों की तुष्टि से होता है। नेत्रों के साधन से उपलब्ध किसी सुन्दर पदार्थ को देखकर हमें एक प्रकार का आनन्द मिलता है। इसी प्रकार किसी मधुर राग की ओर हमारी श्रवणेन्द्रिय स्वभावत आकृष्ट हो जाती है और उससे भी हमें आनन्द मिलता है। मन स्वत कह उठता है—'कितना सुन्दर राग है,' इसके लिए नाप-तोल अपेक्षित नहीं। इन्द्रियों से सम्बन्धित सौन्दर्य रूप, रस, गध, शब्द एव स्पर्श पर आश्रित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों के माध्यम से सौन्दर्य का बोध होता है और इसका निर्णायक मन होता है क्योंकि आनन्द की अनुभूति मन को ही होती है। अतएव मन जिस किसी भी वस्तु में रमने लगे और मन को आनन्दानुभूति हो वही सुन्दर है।

परन्तु इन्द्रियों के माध्यम द्वारा उत्पन्न आनन्द के अतिरिक्त भी एक ब्रह्मानन्द की स्थिति है। इसमें साधक का मन किसी अदृश्य के प्रति आकृष्ट होकर आनन्दविभोर हो उठता है। इस ब्रह्मानन्द की स्थिति प्राप्त होने पर व्यक्ति की बाह्य इन्द्रियां प्रसुप्त पड़ जाती हैं और उसका अन्तर्जगत् पूर्णरूपेण जागरित हो उठता है। ऐसे उपासकों को, जिनका हृदय परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए आलोडित होता रहता है उस परम तत्त्व की कल्पना में दिव्य सौन्दर्य परिलक्षित होता है। इसकी अनुभूति के लिए उस अनुपम तत्त्व की रूपरेखा अपेक्षित नहीं, न सभव ही है। अतएव

रूप, रस, गध, शब्द एवं स्पर्श पर आश्रित सौन्दर्य के समान ही अन्तः-करण सम्बन्धी भाव-सौन्दर्य तक की भी कल्पना की जा सकती है।

उस परम तत्त्व के सौन्दर्य को अपनी अन्तर्दृष्टि से देखकर विभोर हो उठने वाले उपासकों में कवीर का एक विशिष्ट स्थान है। वे स्वय लिखते हैं—

आया था ससार में, देपण कौं वहुरूप।
कहै कवीरा सन्त हौं, पडि गया नजरि अनूप॥

(कवीर-ग्रन्थावली सा० २४ पृ० १४)

इस पद में वे अपने अन्तःकरणों द्वारा उपलव्व किसी ऐसी अनुभूति की ओर सकेत करते हैं जिसमें उनके सम्पूर्ण 'आपे' का ही लय हो जाता है और वे अवाक् वनकर रह जाते हैं।

कवीर साहव की साखियो में तया अन्य रचनाओ में यत्र-तत्र विखरे हुए ऐसे वहुत से पद मिलते हैं जिनमें उनकी सौन्दर्य-भावना का स्पष्ट वोध होता है। वे उस 'अनन्त' को जहाँ किसी अपूर्व ज्योति पुंज के रूप मे देखने का अनुभव करते हैं, वहाँ उनका कहना है—

कवीर तेज अनन्त का, मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिक दीठा तेणि॥१॥
कौतिक दीठा देह विन, रवि ससि विना उजास।
साहिव सेवा माँहि है, वे परवाँही दास॥२॥
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिवे कूँ सोभा नहीं, देख्याही परवान॥३॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवीर ब्रह्म के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। अन्तिम पंक्तियों में यह कह दिया है कि ब्रह्म के तेज के विषय में अनुमान करते नहीं वनता, उनका सौन्दर्य अनिर्वचनीय है और वह देखते ही वनता है।

कवीर की सौन्दर्य-भावना के विषय में छान-वीन करते हुए प्रसिद्ध लेखक पं० परशुराम लिखते हैं—

"कबीर साहब की सौन्दर्य-भावना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसकी प्रेरणा का उत्स भी अत्यन्त गम्भीर एव मौलिक है । इसका आधार किसी भौतिक पदार्थ अथवा किसी भी रूपरेखा की परिधि में आने वाली वस्तु तक सीमित नहीं । इस प्रकार के सौन्दर्य में न केवल रूप-रसादि जैसे विषयों का आकर्षण है, अपितु उसके साथ एक विचित्र आत्मीयता की भी विशेषता है ।"

कबीर साहब का रहस्यवाद—

रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए डा० रामकुमार वर्मा लिखते है—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है, और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता । जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओतप्रोत हो जाती हैं । ··· ' आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणो का प्रदर्शन ।" कबीर की उलटवासियाँ प्राय इसी भावना पर चलती हैं ।

सन्तो जागत नीद न कीजै ।
काल नहिं खाई कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै ।।
उलटि गगा समुद्रहिं सोखै, शशि और सूर गरासै ।
नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल में बिम्ब प्रकासै ।।
विनु चरणन के दुहुँ दिस धावै, बिन लोचन जग सूझै ।
ससा उलटि सिंह को ग्रासै, है अचरज कोउ बूझै ।।

उस सयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है । उस एकान्त सत्य से, उस दिव्य शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है । उस प्रेम में चचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती । वह प्रेम अमर है ।

इस प्रकार आत्मा भौतिक बधनों का बहिष्कार कर अन्तश्चेतना की ओर प्रवृत्त होती है। प्रारम्भ में रहस्यवादी एक ऐसे परम शान्त वातावरण और गम्भीर एकान्त की खोज करता है जो उसके आत्मिक विकास के लिए उपयुक्त हो। ऐसे वातावरण में आराधक निरपेक्ष परम तत्त्व के चिन्तन में निमग्न हो जाता है। उसे अपने आराध्य के प्रति सहज प्रेम हो जाता है। यह रहस्यवादी चिन्तक की दूसरी मानसिक स्थिति होती है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाने के लिए विकल हो उठती है। रहस्यवाद की तीसरी स्थिति आत्मा और परमात्मा के एकीकरण की होती है। यहाँ आराधक की व्यक्तिगत सत्ता नष्ट हो जाती है और आराध्य में ही उसका सम्पूर्ण विलय हो जाता है। उसकी आत्मा ब्रह्मानन्द (Blissful joy) में विभोर हो उठती है। लक्ष्य की इस चरम सीमा पर पहुँचकर आत्मा परमात्मा के समान ही उत्कृष्ट और विस्तृत हो जाती है और उनमें कोई तात्त्विक भेद अवशेष नहीं रहता। इस प्रकार रहस्यवादी चिन्तक की तीन मानसिक स्थितियां होती हैं—

(१) गम्भीर एकान्त और परम शान्त वातावरण की खोज।

(२) आत्मा का परमात्मा के प्रति सहज प्रेम का उदय होना और उसके मिलन के लिए आकुल हो उठना।

(३) दोनों का एकीकरण और ब्रह्मानन्द की अनुभूति।

इस प्रकार रहस्यवादी कवि की अनुभूति उसे एक दार्शनिक अद्वैतवादी की कोटि में ला देती है। शकर के अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा में तत्त्वतः कोई भेद नहीं। माया-प्रच्छन्न होने के कारण ही वह परमात्मा से भिन्न दिखाई पड़ती है। इसका आवरण हटा देने पर एक का दूसरे से अलग कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। उपासना या ज्ञानार्जन के द्वारा माया का भ्रम दूर हो जाता है और दोनो का पुन. एकीकरण हो जाता है। इस तथ्य को कवीर ने भी अपने शब्दो में इस

प्रकार व्यक्त किया है—

जल मे कुभ, कुभ में जल है, वाहर भीतर पानी।
फूटा कुभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ॥

इस प्रकार घडे के भीतर के पानी और घडे के वाहर के पानी में तत्त्वत कोई भेद नहीं। वे एक-दूसरे से इसीलिए अलग-अलग देखे जा सकते हैं कि घडे की चादर उन्हें अलग-अलग किये हुए है। इसी प्रकार माया भी ब्रह्म के दो स्वरूपों को अलग रखती है। कुम्भ के फूटने पर जिस प्रकार दोनो भाग एक हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा-परमात्मा का भी माया का आवरण हट जाने पर सयोग हो जाता है।

कबीर की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार शकराद्वैत मत के अनुयायी थे। निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व के अस्तित्व में उनका अटूट विश्वास था। उनकी दृष्टि में जगत् अनित्य एव भ्रामक है। जीवात्मा का परमात्मा में विलय हो जाने पर व्यक्तित्व का भी लय हो जाता है अत रहस्यवादी परमात्मा का विश्लेषण नहीं कर सकता। जीवात्मा द्वारा परमात्मा के किये गये अनुभव को वे इसी कारण, उन दोनों का पूर्णत "एकमेक ह्वै मिल"[1] रहना ही बतलाते हैं। वे उसके साथ अपना सम्बन्ध निरूपित करते समय उसे पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान कर देते हैं।

कबीर का रहस्यवाद केवल शकर के अद्वैतवाद से ही प्रभावित न था। इन पर सूफीमत के चिन्तकों की भी अमिट छाप पडी थी। सूफी-मत में भी बन्दे और खुदा के एकीकरण पर वल दिया जाता है यद्यपि इसमें माया का कोई विशेष स्थान नही है। सूफीमत में भी आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए व्यग्र होकर अग्रसर होती हुई मानी गई है। इस मत के अनुसार परमात्मा से मिलने के पहले आत्मा को चार दशाएँ पार करनी पडती हैं—

१ साखी ३, पृ० ४२

१ शरियत
२. तरीकत
३. हक़ीकत
४ मारिफत

इस मारिफत में जाकर आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है।

सूफीमत में उपासना की पद्धति भी उल्लेखनीय है। इसमें ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गई है। वहाँ उपासक पुरुष बनकर ईश्वररूपी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए सौ जान से निसार होता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर पर पड़े हुए दोनों मतों के प्रभावो को सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के एकीकरण होने-न-होने में चिन्तन और माया का बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग है और सूफीमत में उसी के लिए हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का। इसमें प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही कर्म है। कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफीमत पर आश्रित है। इसलिए कबीर ने अपने रहस्यवाद के स्पष्टीकरण में दोनों की—अद्वैतवाद और सूफीमत की—बातें लीं। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफीमत के स्त्री-रूप भगवान् की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष-रूप भगवान् के सामने सिर झुका लिया है। इस प्रकार कबीर ने दोनो सिद्धान्तो से अपने काम के उपयुक्त तत्त्व लेकर शेष बातो पर ध्यान ही नहीं दिया है।"

परमात्मा की अनुभूति के लिए आत्मा प्रेम से परिपूर्ण होकर अग्रसर होती है। वह सासारिकता का बहिष्कार कर दिव्य और अलौकिक वातावरण में उठती है। ईश्वर के संसर्ग से वह आत्मा उस दैवी शक्ति के

कारण हतबुद्धि-सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं पाती कि परमात्मा क्या है, कैसा है! वह अवाक् रह जाती है। उस समय आत्मा में इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वह परमात्मा की ज्योति का निरूपण करने में असमर्थ हो। वह आशा और जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा की ओर देखती है। अन्त में बड़ी कठिनता से कहती है—

वर्णहुँ कौन रूप औ रेखा,
दोसर कौन आहि जो देखा।
ओंकार आदि नहिं वेदा,
ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

(रमैनी ६)

इस स्थिति में प्रेम का क्रमशः उत्कर्ष होता है और उपासक स्वयं को परमात्मा की स्त्री मानकर उसका एक अंग बन जाता है। यह प्रेम की उत्कृष्टतम स्थिति होती है।

एक अंड ओंकार ते, सब जग भया पसार,
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार॥

(रमैनी २७.)

अन्त में आत्मा तन्मय होकर कह उठती है—

हरि मोर पीव माई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव॥
हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

और भी—

जो पै पिय के मन नहिं भाये।
तो का परोसिन के दुलराये॥

का चूरा पाइल झमकाएं।
कहा भयो बिछुआ ठमकाएं॥
का काजल सेंदुर कै दीये।
सोलह सिंगार कहा भयो कीये॥
अंजन मंजन करै ठगौरी।
का पचि मरै निगोडी बौरी॥
जो पै पतिव्रता है नारी।
कैसे ही रहौ सो पियहिं पियारी॥
तन मन जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा॥

यह कहते हुए कि—

हरि मरिहैं तो हम हूँ मरिहैं।
हरि न मरै हम काहे को मरिहैं॥

कबीरदास जी रहस्यवाद की चरमसीमा पर पहुँचते हुए दृष्टिगत होते हैं। इसमें एक के विनाश में दूसरे का विनाश तथा एक के अस्तित्व में दूसरे का अस्तित्व निहित है।

कबीर की रचनाएँ

महत्त्वपूर्ण आधुनिक शोध के उपरान्त भी कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है। अब तक उनकी मूल कृतियों का कोई प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत नहीं किया जा सका। एच्० एच्० विल्सन ने कबीर साहब की केवल आठ ही रचनाओं के नाम दिये हैं। रे० वेस्टकॉट ने इस संख्या को बयासी तक ला दिया। डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'सन्त कबीर' की 'प्रस्तावना' में 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' की सं० १९५८ से लेकर १९७९ तक की खोज-रिपोर्टों के आधार पर, ऐसी पचासी ग्रन्थों की एक तालिका प्रस्तुत की, और

इसके साथ यह भी बतलाया, "यदि स्वतन्त्र ग्रन्थो की गणना की जाय तो वे अधिक-से-अधिक ५६ होंगे" तथा इनमें से भी कई ग्रन्थ कबीर साहब का महत्त्व बढ़ाने के लिए उनकी प्रशसा में लिखे गये होंगे।

कबीर साहब के तीन मुख्य ग्रन्थो का ही, जिनकी प्रामाणिकता अब सिद्ध की जा चुकी है, साहित्यिक विवेचन किया जाता है। उनकी प्रथम प्रामाणिक पुस्तक, नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और श्रीश्याम-सुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' है। श्रीश्यामसुन्दरदास जी ने यह दावा किया है कि यह कबीर की मृत्यु के १५ वर्ष पूर्व अर्थात् स० १५६१ में विरचित हो चुकी थी। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे ग़लत सिद्ध किया है। महत्त्वपूर्ण शोध के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह 'परवर्ती काल' की लिखावट है।

कबीर साहब की वाणियो का द्वितीय महत्त्वपूर्ण सग्रह 'आदि-ग्रन्थ के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। स० १६६१ अर्थात् सन् १६०५ में सिखों के 'गुरुग्रन्थ साहब' का सकलन प्रस्तुत किया जा चुका था। इसमें कबीर की भी बहुत-सी वाणियाँ सकलित हैं। "गुरुग्रन्थ साहब में ही कभी-कभी दूसरे सन्तो के नाम से भी वही पद मिल गये हैं जो कबीर के नाम से सगृहित हैं। इससे यह सन्देह होता है कि आदि-ग्रन्थ में सकलित पदो की प्रामाणिकता भी उतनी विश्वसनीय नहीं है", यह डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अपना निष्कर्ष है।

अपने सम्प्रदाय में समादृत कबीर का तीसरा महत्त्वपूर्ण सग्रह 'बीजक' है। यह 'बीजक' १८वीं शताब्दी में धनौती मठ से प्रकाशित हुआ है। प्रथम दोनों सग्रहों की अपेक्षा 'कबीर बीजक' की भाषा अधिक नवीन जान पडती है। यह सग्रह कबीर साहब की रचनाओं की एक प्रथम परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बीजक के सम्बन्ध में अपने

विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"बीजक कबीरदास के मतो का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें एक ध्यान देने योग्य बात है कि बीजक में ८४ रमैनियां हैं, रमैनियां चौपाई छन्द में लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियां ऐसी हैं जिनके अन्त में एक-एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करने का अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इन रमैनियों को लिख रहा है और इस रमैनी रूप व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी या गवाही पेश कर रहा है। बहुत थोडी-सी रमैनियां (नं० ३,२८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८०) ऐसी हैं जिनके अन्त में साखियां नहीं हैं।

रमैनियां बीजक के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनमें साधारणत: सात-सात चौपाई के बाद एक-एक दोहा संकलित किया गया है जिसे कबीर-पंथ में 'साखी' कहते हैं।"

इस प्रकार बीजक के अन्तर्गत आनेवाले दोहे साखी के नाम से चल पड़े। 'साखी' शब्द का अर्थ है साक्षी, अर्थात् ये वाक्य मानो गुरु के उपदेशों के प्रत्यक्ष रूप हैं।

कबीर के बीजक में रमैनियो और साखी से भिन्न एक-एक और पद-रचना की शैली भी मिलती है जिसे 'शब्द' कहा जाता है। 'शब्द' वस्तुतः गेय पद हैं। 'शब्द' शब्द का प्रयोग कबीर से पहले भी हो चुका था। ये पद बौद्ध और नाथ-सिद्धो के विभिन्न रागों में लिखे गये पदों का अनुकरण मात्र हैं।

बीजक में प्रयुक्त पदों की विवेचना—

इन पदो की विवेचना सफल आलोचक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने मार्मिक शब्दों में इस प्रकार की है—

"बीजक में जो पद संगृहीत हैं उनमें खण्डन-मण्डन और ज्ञान की कथनी की प्रवृत्ति अधिक है और 'ग्रन्थ साहब' तथा 'कबीर-ग्रन्थावली' में संगृहीत पदों में भक्ति और आत्म-समर्पण के भावो की प्रधानता है।

ऐसा जान पड़ता है कि बीजक को सम्प्रदाय का धर्म-ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न अधिक हुआ है और इसीलिए उसके स्वर को ज्ञान-प्रधान और आक्रामक बनाने का प्रयत्न किया गया है। निस्सदेह कबीरदास में रूढियों, साम्प्रदायिक भावनाओं और निरर्थक बाह्याचारों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति थी, पर यह उनकी नकारात्मक दृष्टि थी। उनकी वास्तविक देन तो उनकी भक्ति-भावना ही थी।

बीजक में उनका महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। उनमें एक प्रकार की घर-फूंक मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही के भाव मिलते है। उनमें अपने-आपके ऊपर अखण्ड विश्वास था। उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को, अपनी साधना को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा। केवल बाह्याचारों के गट्ठर, केवल कुसस्कारों के गड्ढे, साधारण हिन्दू-गृहस्थ पर आक्रमण करते समय लापरवाह रहते हैं और इस लापरवाही के कारण ही उनके आक्रमण-मूलक पदो में एक सहज सरल भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंग्यों की जान है। उनके आक्रोश में मस्ती है।"

कबीरसाहब की प्रतीक-योजना—

कबीर की प्रतीक-योजना पर सम्यक् विचार करने से पूर्व उनके रूपकों पर विचार कर लेना विषयानुकूल प्रतीत होता है। रहस्यवादी विचारक के सम्मुख अपने परमतत्त्व के अपरोक्ष अनुभवों को साधारण व्यक्तियों के लिए बोधगम्य शब्दों में व्यक्त करने की एक जटिल समस्या होती है। वे स्पष्टरूप से अपने भाव कहने में असमर्थ हो जाते हैं, क्योंकि अनुभूत भाव-सौंदर्य इतना अधिक होता है कि वे साधारण शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते। इसलिए अपने भावों को व्यक्त करने के लिए उन्हें रूपकों का सहारा लेना पड़ता है।

कबीर के रूपक नित्यप्रति के दैनिक ग्रामीण जीवन में काम आने वाली वस्तुओं से लिये गये है। उनके रूपक इस प्रकार से सँजोये गये हैं

कि उनसे उनके गहरे रहस्यवाद की झलक दिखाई पड़ती है। उनके रूपक स्वाभाविक होने पर भी जटिल हैं। डा० रामकुमारजी वर्मा लिखते हैं—"यद्यपि उनके रूपक पुष्प की भाँति उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की भाँति विकसित भी, पर उनमें दुरूहता के काँटे अवश्य होते हैं। परन्तु जो-कुछ भी हो, इनके रूपकों की योजना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। उनके दिव्य वचन रूपको के अन्दर छिपे पड़े हैं। जिज्ञासु एक बार समझ लेने पर आनन्दविभोर हो उठता है। उदाहरण के लिए नीचे कुछ पद दिये गये हैं जिनसे उनके रूपको की सार्थकता और सफलता का विशेष परिचय मिलता है—

हरि मोर रहटा, मैं रतन पिउरिया।
हरि का नाम लै कतति बहुरिया॥
छौ मास तागा बरस दिन कुकुरी।
लोग कहैं भल कातल बपुरी॥
कहहि कबीर सूत भल काता।
चरखा न होय मुक्ति कर दाता॥

देखने से तो इसका अर्थ सरल ही प्रतीत होता है पर वास्तव में यह गहरी भावनाओ से ओतप्रोत है। कबीर जाति के जुलाहे थे अत. उनका यह रूपक भी कितने स्वाभाविक ढग से बन पडा है। यदि चरखे का रूपक उक्त पद से हटा लिया जाय तो विचार की सारी शक्ति शिथिल पड जायगी और भावो का सौंदर्य बिखर जायगा। यहाँ यह स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध चित्रित करने में रूपक का सहारा कितना महत्त्व रखता है। कबीर के उसी रूपक का परिवर्धित उदाहरण बीजक के कई पदो में मिलता है। उदाहरण के लिए—

जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै।
मैं कातो सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥

वावा, मोर व्याह कराव, अच्छा वरहि तकाय ।
जौ लौं अच्छा वर न मिलै, तौ लौं तुमहिं विहाय ।।
प्रथमें नगर पहूँचते, परिगो सोग संताप ।
एक अचम्भा हम देखा जो विटिया व्याहल वाप ।।
समधी के घर समधी आए, आए वहू के भाय ।
गोडे चूल्हा दै दै चरखा दियो दिढाय ।।
देवलोक मर जायँगे, एक न मरै वढाय ।
यह मन रजन कारणे चरखा दियो दिढाय ।।
कहहि कवीर सुनो हो सन्तो, चरखा लखै जो कोय ।
जो यह चरखा लखि परै ताको आवागमन न होय ।।

(वीजक शब्द ६८)

इसका साधारण अर्थ यही है—

यदि चरखा जल भी जाय तो उसका वनानेवाला वढई नहीं मर सकता पर यदि मेरा चरखा न जलेगा तो मैं उससे हजार सूत कातूंगी। बाबा, अच्छा वर खोजकर मेरा विवाह करा दीजिए और जब तक अच्छा वर न मिले तब तक आप ही मुझसे विवाह कर लीजिए। नगर में प्रथम बार पहुँचते ही शोक और दुःख सिर पर आ पडे। एक आश्चर्य हमने देखा है कि पिता के साथ विवाह कर लिया। फलत एक समधी के घर दूसरे समधी आये और बहू के यहाँ भाई। चूल्हा में गोडा देकर (चरखे के विविध भागो को सटाकर) चरखा और भी मजबूत कर दिया। स्वर्ग में रहनेवाले सभी देव मर जायेंगे पर वह वढई नहीं मर सकता जिसने मन को प्रसन्न रखने के लिए चरखे को और भी सुदृढ कर दिया है। कबीर कहते हैं, ओ सन्तो सुनो, जो कोई इस चरखे का वास्तविक रूप देखता है, जिसने इस चरखे को एक वार देख लिया उसका इस ससार में फिर आवागमन नहीं होता, वह ससार के बन्धनों से सदैव के लिए छूट जाता है।

सरसरी दृष्टि से देखने पर तो यह ज्ञात होता है कि इस सारे अवतरण में भावसाम्य ही नहीं है। एक विचार है, वह समाप्त होने ही नहीं पाया कि दूसरा विचार आ गया। विचार की गति अनेक स्थलों पर टूट गई है। भावों का विकास अव्यवस्थित रूप से हुआ है, पर यदि रूपक के वातावरण से निकलकर रूपक को एकमात्र भावों के प्रकाशन का सहारा मानकर हम उस अवतरण के अन्तरग अर्थ को देखें तो भाव-सौन्दर्य हमें उसी समय ज्ञात हो जायगा, विचारो की सजावट आँखों के सम्मुख आ जायगी और हमें कवि का सदेश पढते ही मिल जायगा।

रूपको के अव्यवस्थित होने का कारण यह हो सकता है कि जिस समय कवि एकाग्र होकर दिव्य शक्ति का सौन्दर्य देखता है, ससार से बहुत ऊपर उठकर देवलोक में विहार करता है उसी समय वह उस आनन्द और भाव के उन्माद को सँभाल नहीं सकता। उस मस्ती से दीवाना होकर वह भिन्न-भिन्न रीतियो से अपने भावों का प्रदर्शन करता है। शब्द यदि उसे मिलते भी हैं तो उसके विह्वल आह्लाद से बिखर जाते हैं और कवि का शब्द-समूह शिथिल पड जाता है। अब रूपक को हटाकर जरा इस पद का सौन्दर्य देखिए—

यदि काल-चक्र (चरखा) नष्ट भी हो जाय तो उसका निर्माणकर्ता अनन्तशक्तिसम्पन्न ईश्वर कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि यह काल-चक्र न जले, न नष्ट हो, तो मैं सहस्रो कर्म कर सकता हूँ। हे गुरु, आप ईश्वर का परिचय पाकर उनसे मेरा सम्बन्ध करा दीजिए और जब तक ईश्वर न मिले तब तक आप ही मुझे सरक्षण में रखिए। आपसे प्रथम बार ही दीक्षित होने पर मुझे इस बात की चिन्ता होने लगी कि मैं किस प्रकार आपकी आज्ञा पालन करने में समर्थ हो सकूँगा। पर मुझे आश्चर्य हुआ कि आपके प्रभाव से मेरी आत्मा अपने उत्पन्न करनेवाले परम पिता ब्रह्म में जाकर संबद्ध हो गई। फल यह हुआ कि मेरे हृदय में ईश्वर की व्यापकता और भी बढ़ गई। समधी से समधी की भेंट

हुई, आत्मा के पिता ब्रह्म से गुरु के पिता ब्रह्म की भेंट हुई, अर्थात् ईश्वर की अनुभूति दुगनी हो गई। वाणी रूपी वहू के पास पाडित्य रूपी भाई आया अर्थात् वाणी में विद्वत्ता और पाडित्य आ गया। उस समय कर्म-काडो से सज्जित काल-चक्र की दृढता और भी स्पष्ट जान पडने लगी। सारे विश्व को एक नजर से देख लेने पर इतना अनुभव हो गया कि विश्व की सभी वस्तुएँ मर्त्य हो सकती हैं पर वह अनन्त शक्ति, जिसने काल-चक्र का निर्माण किया है, नष्ट नहीं हो सकती। कवीर कहते हैं कि जिसने एक वार इस काल-चक्र के मर्म को समझ लिया वह कभी ससार के बधनो से वद्ध नहीं हो सकता। उसे ईश्वर की ऐसी अनुभूति हो जाती है कि उसके जन्म-मृत्यु का वन्धन नष्ट हो जाता है।

इसमें रूपक का बधान कितना सुन्दर वन पडा है! उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रहस्यवादी किस प्रकार अपने भावों को व्यक्त करते है।

आत्मा एव परमात्मा के अतिरिक्त वहुत से अन्य ऐसे दार्शनिक साधन-सम्बन्धी विषय भी है जिनका समुचित वर्णन हमारी भाषा द्वारा नहीं किया जा सकता और न उन्हें समझाते समय, हमें कवियों द्वारा प्रयोग में लाये जानेवाले साहित्यिक अलकारो से ही पूरी सहायता मिल पाती है। रूपक एव समासोक्ति के प्रयोग से हम अपनी भाषा में चित्रित किसी प्रस्तुत पर किसी अप्रस्तुत वस्तु या अर्थ का आरोप कर उसका वर्णन करते हैं अथवा अन्योक्ति से किसी ऐसे अप्रस्तुत को ही सामने लाकर उसके सहारे किसी प्रस्तुत का स्पष्टीकरण कर देते है और हमारा विषय वोधगम्य हो जाता है। किन्तु जहाँ किसी वस्तु के अगोचर होने के कारण हमारी भाषा उनका साधारण चित्रण तक करने में असमर्थ हो वहाँ स्वभावत ऐसे अलकारो के प्रयोग भी पूरा काम नहीं दे सकते, अतएव परमतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव करनेवाले साधको को उसकी अभिव्यक्ति के समय सदा एक विकट समस्या का सामना करना पड जाता है। वे

अपनी आध्यात्मिक अनुरक्ति समुचित रूप से व्यक्त करने के लिए तब उन लौकिक स्तर के अनुभवो को ढूंढ निकालते हैं जिनकी प्रवृत्तियों के साथ उसका अधिक-से-अधिक साम्य दीख पडता है और जिनसे सभी परिचित भी रहते हैं।

इस प्रकार के अभिव्यक्तिपरक प्रयोगों को ही साहित्यिक भाषा में प्रतीक-योजना का नाम दिया जाता है । 'प्रतीक' से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इगित करनेवाला न तो सकेतमात्र है और न उसका स्मरण दिलानेवाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका एक जीता-जागता एव पूर्णत क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लानेवाले को उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है।

कबीर साहब एक सफल साधक थे और सत्य की खोज में प्रवृत्त रहकर जहाँ-कहीं से भी प्रेरणा ग्रहण करनेवाले महान् पुरुषों की भाँति, वे सदा सजग और सचेष्ट रहना भी जानते थे। इस कारण उनकी रचनाओं में प्राय. सभी प्रकार के प्रतीको का पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी हमें उनमें अधिकतर ऐसे प्रतीको के ही प्रयोग दीख पडते हैं जो उन्हें उनके सिद्धो एवं नाथों की परम्पराओ द्वारा प्रभावित होने के कारण तथा भक्तिकालीन वातावरण में पाले जाने अथवा सर्वसाधारण के बीच कार्य करते रहने की दृष्टि से भी, अनुकूल और उपयुक्त प्रतीक हो सकते थे। सिद्धो एवं नाथों की परम्पराओ के भी उन्होंने भरसक वैसे ही प्रतीकों को अपनाया है जिनका सम्बन्ध केवल साधारण तान्त्रिक अथव योगपरक साधनाओ के साथ था और जो ठेठ साम्प्रदायिक भी नहीं कहे जा सकते थे। इसी प्रकार, उन्होने सूफियो की पद्धति से भी केवल उतनी ही सहायता ली है जहाँ तक अपनी वर्णन-शैली के लिए उचित और उपयुक्त समझा करते थे अथवा जहाँ तक उसे उन्होने भारतीय परम्परा के अविरुद्ध भी पाया था।

कबीर की प्रतीकात्मक शैली का उदाहरण निम्नलिखित पद में देखिए। प्रतीकों की कितनी सुन्दर योजना की गई है—

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न अवगुण बकसहु मेरा ॥ टेक ॥
सुत अपराध करै दिन केते,
जननी के चित रहैं न तेते ॥
कर गहि केस करै जो घाता,
तऊ न हेत उतारै माता ॥
कहे कबीर इक बुद्धि बिचारी,
बालिक दुखी दुखी महतारी ॥

('क० ग्र०', पद १११ पृ० १२३)

वात्सल्य सूचित करनेवाले उनके इस पद में हमें पहले 'जननी' परमात्मा एव उसके 'बालिक' जीवात्मा के बीच द्वैतभाव का भेद स्पष्ट लक्षित होता है, किन्तु इस प्रतीक वाले दृष्टान्त में भी जान पडता है कि उन्होंने अपने द्वैतवादी दृष्टिकोण की ओर सकेत करना नहीं छोडा है। उन्होंने यहां पर अपने साहिब का प्रतीक 'जननी' को माना है और उस शब्द में निहित मातृत्व का भाव जागृत कराया है। उस मूर्त स्नेह के समक्ष उसके 'बालिक' के अनन्त अपराध भी अपना अस्तित्व खो देते है और सह-सवेदन के कारण इसके अपराधों को वह स्वय झेला करती है। फिर दोनों में मौलिक भेद कहां रह जाता है ?

यहां पर अपराधों को हम उन सस्कारो के प्रतीक समझ सकते हैं जिनके कारण हम आवागमन के चक्कर में पडे रहते हैं और जो अपनी 'जननी' द्वारा अपने प्रति प्रदर्शित स्वाभाविक 'हेत' के न उतारे जाने पर अथवा आत्मभाव बनाये रखने पर आप-से-आप नष्ट हो सकते हैं।

कबीर साहब की रचनाओं के अन्तर्गत हमें दाम्पत्य भाव वाले प्रतीकों के उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। कबीर साहब ने

दाम्पत्य भाव के उभयपक्ष—सयोगावस्था एवं वियोगावस्था के भी आधार पर अपनी रचनाएँ की हैं। सयोगपक्ष वाले प्रतीको की योजना करते हुए वे अपने एक पद में अपने प्रियतम से इस बात का आग्रह करते हुए दीख पड़ते हैं कि वह इनसे अब कभी वियुक्त होने की चेष्टा न करे। जैसे—

अब तोहि जान न देहौं राम पियारे,
ज्यू भावे त्यू होहुँ हमारे ॥ टेक ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये,
भाग बडे घरि बैठे आये ॥
चरननि लागि करौं बरियाई,
प्रेम-प्रीति राखौं उरझाई ॥
इत मन मन्दिर रहो नित चोपैं,
कहै कबीर परहु मति घोपैं ॥

इसी प्रकार दाम्पत्य की वियोगावस्था को स्पष्ट करने के लिए हम कबीर साहब की निम्नलिखित पदावली-प्रतीक-योजना प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें विवाह-विधि के सम्पन्न होते समय से ही, वैधव्य के अनुभव का दु ख उलटबाँसी के द्वारा बतलाया गया है। इस दशा में हम न केवल अपने वास्तविक पति—परमात्मा को अपनाना भूल जाते हैं, अपितु उसके वियोग में, प्रपचो के फेर में पडकर कृत्रिम सुखो के अनुभव में भी लग जाते हैं और इस प्रकार हमें अपना समय व्यर्थ नष्ट करने की एक दूसरी भूल भी करनी पड जाती है। दोनो के कारण स्पष्ट हैं।

"मैं सासने पीव गौहनि आई।
साईं सगि साध नही पूँगी, गयो जोवन सुपिना की नाईं ॥ टेक ॥
पच जना मिलि मडप छायो, तीनी जना मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मगल गावे, सुख-दुख माथे हलद चढाई।
नाना रगे भाँवरि फेरि, गाँठि जोरि बावै पति ताई।
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह, चौक कै रगि धरयो सगो भाई ॥

अपने पुरिष मुख कबहुँ न देख्यो, सती होत समझी समझाई ।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ, तिरौ कंत ले तूर बजाई ॥
('कबीर ग्र०' पद ३२६, पृ० १६४)

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों पदों में कबीर की प्रतीक योजनाओं की विलक्षणता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है ।

उपर्युक्त प्रतीक-योजनाओं के अतिरिक्त कबीर ने कई दूसरे प्रतीकों की भी योजना की है जो विभिन्न रूपों में पाये जाते हैं । इनमें कुछ तो साधारण जीविका के विविध क्षेत्रों से लिये गये हैं जिनमें जुलाहा, बणजारा, कुम्हार और कलाल आदि की कार्य-सीमाएँ प्रमुख हैं और अन्य ऐसे भी हैं जो गुड़िया, डोली, रहटा, रस, कामधेनु आदि के रूपों में विभिन्न वस्तुओं अथवा भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

कबीर की भाषा एवं रचना-शैली—

कबीर की भाषा के विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रभावात्मक शैली में इस प्रकार लिखा है—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था । वे वाणी के डिक्टेटर थे । जिस बात को जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर । भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है । उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके । और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताक़त कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है । असीम-अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकनेवाली ही बात है । पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' में न केवल उस गभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान् कर दिया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर

भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद करानेवाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी सभी उनके व्यग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्णरूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल।"

कबीर की सर्वग्राही प्रतिभा ने किसी एक प्रकार की भाषा के बन्धन में जकडा रहना सर्वथा अस्वीकार किया। उनके आदि और अन्त के संग्रहों की भाषा में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'कबीर बीजक' में, जैसा कि रेवरेंड अहमदशाह ने लिखा है "बनारस मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आसपास की बोली है।" इसी तथ्य को विचारदास शास्त्री ने दूसरे शब्दो में कहा है कि "इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है।" डा० बाबूराम सक्सेना ने उन्हें 'अवधी का प्रथम सन्त कवि' कहा है।

इसी प्रकार जिन विद्वानों ने मुख्यतः 'कबीर-ग्रन्थावली' की भाषा-शैली पर विचार किया है उन्होंने उसकी भाषा को या तो जैसे डा० श्यामसुन्दरदास ने 'पचमेल खिचड़ी' का नाम दिया है अथवा स्पष्ट शब्दों में, जैसे सूर्यकरण पारीक ने कह डाला है कि "कबीर की भाषा राजस्थानी है।" तथा डा० रामकुमार वर्मा को इस ग्रंथ में 'पंजाबीपन

का अत्यधिक' पुट मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'भारत की भाषाएँ' में कबीर की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि "कबीर की रचना में हमें मुख्यत ब्रजभाषा मिलती है लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का भी कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खडी-बोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में मिलता है। अथवा वह हिन्दी और ब्रज-भाषा का एक मिश्रित रूप है।" स्व० शुक्लजी ने इनकी भाषा को 'सधुक्कडी भाषा' का नाम दिया है।

अपने-अपने महत्त्वपूर्ण शोध के उपरान्त कबीर के आलोचक इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि उनकी रचना-शैली किसी भाषा-विशेष से आबद्ध न थी। उनकी रचनाओ में अवधी, खडीबोली और ब्रज-भाषा का पुट यथास्थान मिलता है।

कबीर की रचनाओं के प्रामाणिक सग्रहों में आये हुए क्रियापदों का विश्लेषण करते हुए प० परशुराम चतुर्वेदी ने निम्नलिखित तालिका बनाई है—

'कबीरबीजक'	'आदिग्रथ'	'कबीर-ग्रथावली'
फिरहु	फिरतै	फिरत
फूले, भूले	फुलिया, भुलिआ	फूल्यौ, भूल्यौ
कीन्हा, दीन्हा	कीआ, दीआ	कीनो, दीनूं
करै	करीअै	करि
कहहि	कहतु	कहै

उपर्युक्त क्रियापदों के रूपों में स्पष्ट भेद है जो इनकी क्रमश अवधी, पुरानी खडीबोली तथा ब्रजभाषा की विशेषताओं को सूचित करता है।

कबीर का अधिकाश जीवन सत्सग में ही काशी में बीता था। प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान होने के कारण भारत के विभिन्न स्थानों से यात्रीगण यहाँ आया करते थे जिनसे कबीर साहब का सम्पर्क हुआ। सुदूर पंजाब, गुजरात, राजस्थान एव महाराष्ट्र के श्रद्धालु यात्रियों के साथ धर्म-

चर्चा करने का उन्हें अवसर मिला था जिसके कारण उनकी रचनाओं में इन प्रान्तो के शब्द सहजरूप से आ गये हैं।

यद्यपि कबीर अपनी भाषा को परिमार्जित करने तथा शुद्ध साहित्यिक रूप देने के लिए कभी सचेष्ट नहीं थे परन्तु उनके कुछ हृदयोद्‌गार ऐसे पदो में व्यक्त हो गये हैं जिनमें भाव-सौन्दर्य और भाषा-लालित्य दोनों का अपूर्व समन्वय हो गया है। जैसा कि पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने महत्त्वपूर्ण अध्ययन के बाद निष्कर्ष निकाला है—"कबीर की इस मिश्रित भाषा में 'हिन्दवी' अथवा पुरानी खड़ीबोली का अंश अधिक रहता था और इसके अतिरिक्त उसमें पूर्वी हिन्दी, ब्रज तथा पछांही बोलियां तक मिली-जुली रहती थीं। कबीर साहब के अतिनिकट की साहित्यिक भाषा पूर्वी हिन्दी अथवा अवधी थी, जिसका प्रयोग अधिकतर उन्होंने अपनी रमैनियों में किया है।"

मलिक मुहम्मद जायसी

परिचय

मुसलमान कवियो ने किस प्रकार हिन्दी-भाषा को अगीकार करके हिन्दी-साहित्य का सृजन किया और उसके भडार का सपोषण किया, यह हमारे देश के इतिहास में उल्लेखनीय घटना है। कुछ घटनावश ही नहीं, वरन् स्वेच्छा एव पूर्ण श्रद्धा से इन लोगों ने इस कार्य को सम्पन्न किया। यदि सन्त कबीर ज्ञानमार्गी शाखा के सर्वोत्कृष्ट कवि के रूप में प्रकट हुए, तो मलिक मुहम्मद जायसी प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि एव सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में आविर्भूत हुए। इन दोनों में हिन्दू-सस्कृति के लिए सहज श्रद्धा थी। नाम और जाति से विजातीय होते हुए भी ये लोग अन्त करण से हिन्दी-भाषा और भारतीय सस्कृति के रग में पूर्ण रीति से रँगे हुए थे।

मलिक मुहम्मद जायसी सूफी फकीर थे। ये प्रसिद्ध सन्त श्री शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे। इनका निवास-स्थान 'जायस' था। अत यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कालान्तर में इनके नाम के साथ 'जायसी' पद सयुक्त कर दिया गया हो। जायसी ने अपनी पुस्तक 'आख़िरी कलाम' में अपना जीवन-वृत्तान्त दिया है। अपने जन्मादि के विषय में इस पुस्तक में उन्होंने सकेत किया है। पुस्तक के आरम्भ की अर्धालियाँ इस प्रकार हैं—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

आचार्य प० रामचन्द्रजी शुक्ल का मत है कि "इन पक्तियों का ठीक

तात्पर्य नहीं खुलता। जन्म-काल ९०० हिजरी मानें तो दूसरी पक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होंने बनाये।" कुछ भी हो, स्वयं-वर्णित इन पक्तियों के अतिरिक्त अन्य कौन मत प्रामाणिक हो सकता है ? अत. इस मत को ही युक्तियुक्त माना गया है।

जायसी कुछ विशेष लक्षण लेकर आविर्भूत हुए थे ; क्योंकि जिस समय उनका जन्म हुआ, पृथ्वी में भूकम्प आ गया और समस्त संसार त्रस्त और आतंकित हो गया। सूर्य में भी ग्रहण लग गया था—

आवत उद्यत चार विधि ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना ॥

तथा—

सूरज सेवक ताकर अहै। आठो पहर फिरत जो रहै ॥

अपने निवास-स्थान के विषय में उल्लेख करते हुए जायसी लिखते हैं—

जायस नगर मोर अस्थानू, नगरक गाँव आदि उदयानू।
तहाँ दिवस दस पहुँने आएऊं। भा वैराग बहुत सुख पाएऊं ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जायस का पूर्व नाम उदयन था। जायसी वहाँ कुछ दिन के लिए अतिथि के रूप में गये। उन्हें वहाँ वैराग्य हो गया। इससे यह बात सिद्ध नहीं हो पाती कि जायसी का जन्म-स्थान भी जायस ही था। जायस के विषय में 'पद्मावत' के स्तुति-खंड में केवल इतना उल्लेख है—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू ॥

अतः जायस में मलिक मुहम्मद किसी अन्य स्थान से आये थे। जायस प्रसिद्ध धार्मिक स्थल था।

प्रमाण एवं जनश्रुति के सामंजस्य से उपरिकथित निष्कर्ष के अतिरिक्त और किसी बात की पुष्टि नहीं हो पाती। कोई जनश्रुति उनके जन्म-स्थान को जायस बताती है, कोई गाजीपुर। मानिकपुर जिला प्रतापगढ़,

को उनका ननिहाल कहा जाता है। माता-पिता और भाइयों के बारे में प्रसिद्ध है कि उनके माता-पिता की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गई थी। तत-पश्चात् ये साधु-सन्तों के साथ रहने लग गये थे। जनश्रुति के आधार पर इनका विवाह हुआ था और सन्तान भी थी। अमेठी के राजा की इन पर बड़ी श्रद्धा थी और उस राज्य में वे सम्मान-सहित बहुत दिन तक रहे। वहीं पर इनकी मृत्यु भी हो गई। जायस में उनका मकान और 'अमेठी' में उनकी कब्र आज भी विद्यमान है। ऐसा सुना जाता है कि जायस में इनके वशज भी हैं।

इन विवरणों से यह स्पष्ट है कि जायसी का जन्म चाहे जायस में हुआ हो या कहीं अन्यत्र, परन्तु उनका सम्बन्ध जायस से अवश्य रहा। इसमें सदेह नहीं हो सकता कि जायस ही उनका स्थायी निवास-स्थान था। 'जायसी' नाम से उनकी प्रसिद्धि से भी यही अर्थ व्यक्त होता है। इस विषय में विविध विद्वानों ने शोध किया है। उसके आधार पर सक्षेप में कहा जा सकता है—

"जान पड़ता है, जायस जायसी का जन्म-स्थान नहीं था। वे दस दिन के पाहुने के रूप में चले आये, परन्तु पीछे वैरागी बन गये। 'आखिरी कलाम' की रचना वैरागी बनने के बाद की बात है। सम्भव है इसके बाद लेखक कहीं अन्यत्र चला गया, कदाचित् कालपी। यहीं वह सूफी-मत में दीक्षित हुआ और उसे अपने मधुर कण्ठ के द्वारा 'कवि' के नाते प्रसिद्धि भी मिल गई। यह भी सम्भव है कि 'पद्मावत' की रचना प्रवास में हुई हो और सूफी दृष्टिकोण के कारण शीघ्र ही प्रसिद्धि हो गई हो ; जायस को धर्म-स्थान मानकर ही उसे अपना स्थान बना लिया हो।"

व्यक्तित्व—जायसी जी काने थे। देखने में कुरूप भी थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का हास्य है कि 'भगवान् ने इन्हें रूप देने में कजूसी की'। जनश्रुति है कि शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा। उसको

उन्होंने तुरन्त प्रत्युत्तर दिया था—"मोहि का हँससि कि कोहरहि।" ये बड़े ही वाक्पटु और प्रत्युत्पन्नमति थे।

जायसी सूफी-कवि थे। इस वर्ग के कवियों में उनका स्थान अद्वितीय है। हिन्दी में वे सूफी-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। जायसी पहले साधक हैं और पीछे कवि। सच तो यह है कि सूफी-सम्प्रदाय और सूफी-विचारधारा को मनोरम और आकर्षक रूप में उपस्थित करने के उद्देश्य से ही जायसी ने काव्य-रचना की तथा उन्हें इस उद्देश्य की पूर्ति में पर्याप्त सफलता भी मिली।

जायसी अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। शील और सहिष्णुता इनके प्रधान गुण थे। वे सन्त थे, साधक थे, दार्शनिक थे और थे अति उदार कवि। इन गुणों के समन्वय से जायसी की रचना विशेष प्रभावोत्पादक बन गई।

जायसी की प्रसिद्धि सन्त-समुदाय में सर्वत्र व्याप्त हो गई। इनके जीवन-काल ही में इनके शिष्य इनके बनाये भावपूर्ण दोहे-चौपाई गाते फिरते थे। इससे जायसी की प्रसिद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कथानक की दृष्टि से जायसी की रचना में अन्य सब प्रेममार्गी कवियों की परम्परा से भेद पाया जाता है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहाँ जायसी ने उसमें इतिहास का भी मिश्रण कर दिया है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में व्यष्टि की प्रधानता है परन्तु उत्तरार्द्ध में कवि व्यष्टि से हटकर समष्टि अथवा लोक-पक्ष पर आ गया है। इसके अतिरिक्त उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान जोड़ दिया है। इस कारण जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से पृथक् हो गया है। अन्य सूफी कवि जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों को ही व्यक्त करते हैं वहां जायसी ने लोक-दृष्टि से प्रेरित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि भाव भी प्रदर्शित किये हैं। अतः वे सब प्रेम-मार्गी कवियों से एक कदम आगे बढ़ जाते हैं।

को उनका ननिहाल कहा जाता है। माता-पिता और भाइयों के बारे में प्रसिद्ध है कि उनके माता-पिता की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गई थी। तत्-पश्चात् ये साधु-सन्तों के साथ रहने लग गये थे। जनश्रुति के आधार पर इनका विवाह हुआ था और सन्तान भी थी। अमेठी के राजा की इन पर बडी श्रद्धा थी और उस राज्य में वे सम्मान-सहित बहुत दिन तक रहे। वहीं पर इनकी मृत्यु भी हो गई। जायस में उनका मकान और 'अमेठी' में उनकी कब्र आज भी विद्यमान है। ऐसा सुना जाता है कि जायस में इनके वशज भी हैं।

इन विवरणों से यह स्पष्ट है कि जायसी का जन्म चाहे जायस में हुआ हो या कहीं अन्यत्र, परन्तु उनका सम्बन्ध जायस से अवश्य रहा। इसमें सदेह नहीं हो सकता कि जायस ही उनका स्थायी निवास-स्थान था। 'जायसी' नाम से उनकी प्रसिद्धि से भी यही अर्थ व्यक्त होता है। इस विषय में विविध विद्वानों ने शोध किया है। उसके आधार पर सक्षेप में कहा जा सकता है—

"जान पडता है, जायस जायसी का जन्म-स्थान नहीं था। वे दस दिन के पाहुने के रूप में चले आये, परन्तु पीछे वैरागी बन गये। 'आखिरी कलाम' की रचना वैरागी बनने के बाद की बात है। सम्भव है इसके बाद लेखक कहीं अन्यत्र चला गया, कदाचित् कालपी। यहीं वह सूफी-मत में दीक्षित हुआ और उसे अपने मधुर कण्ठ के द्वारा 'कवि' के नाते प्रसिद्धि भी मिल गई। यह भी सम्भव है कि 'पद्मावत' की रचना प्रवास में हुई हो और सूफी दृष्टिकोण के कारण शीघ्र ही प्रसिद्धि हो गई हो ; जायस को धर्म-स्थान मानकर ही उसे अपना स्थान बना लिया हो।"

व्यक्तित्व—जायसी जी काने थे। देखने में कुरूप भी थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का हास्य है कि 'भगवान् ने इन्हें रूप देने में कजूसी की'। जनश्रुति है कि शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा। उसको

उन्होंने तुरन्त प्रत्युत्तर दिया था—"मोहिं का हँससि कि कोहरहिं।" ये बड़े ही वाक्पटु और प्रत्युत्पन्नमति थे।

जायसी सूफी-कवि थे। इस वर्ग के कवियों में उनका स्थान अद्वितीय है। हिन्दी में वे सूफी-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। जायसी पहले साधक हैं और पीछे कवि। सच तो यह है कि सूफी-सम्प्रदाय और सूफी-विचारधारा को मनोरम और आकर्षक रूप में उपस्थित करने के उद्देश्य से ही जायसी ने काव्य-रचना की तथा उन्हें इस उद्देश्य की पूर्ति में पर्याप्त सफलता भी मिली।

जायसी अत्यन्त उदार व्यक्ति थे। शील और सहिष्णुता इनके प्रधान गुण थे। वे सन्त थे, साधक थे, दार्शनिक थे और थे अति उदार कवि। इन गुणों के समन्वय से जायसी की रचना विशेष प्रभावोत्पादक बन गई।

जायसी की प्रसिद्धि सन्त-समुदाय में सर्वत्र व्याप्त हो गई। इनके जीवन-काल ही में इनके शिष्य इनके बनाये भावपूर्ण दोहे-चौपाई गाते फिरते थे। इससे जायसी की प्रसिद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कथानक की दृष्टि से जायसी की रचना में अन्य सब प्रेममार्गी कवियों की परम्परा से भेद पाया जाता है। जहाँ अन्य प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं का ही आश्रय लिया है, वहाँ जायसी ने उसमें इतिहास का भी मिश्रण कर दिया है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में व्यष्टि की प्रधानता है परन्तु उत्तरार्द्ध में कवि व्यष्टि से हटकर समष्टि अथवा लोक-पक्ष पर आ गया है। इसके अतिरिक्त उसने अलाउद्दीन और पद्मिनी का ऐतिहासिक आख्यान जोड़ दिया है। इस कारण जायसी का पद्मावत अन्य प्रेममार्गी साहित्य से पृथक् हो गया है। अन्य सूफी कवि जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति तथा कोमल भावों को ही व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी ने लोक-दृष्टि से प्रेरित होकर युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि भाव भी प्रदर्शित किये हैं। अतः वे सब प्रेम-मार्गी कवियों से एक कदम आगे बढ़ जाते हैं।

कृतियाँ—जायसी के जन्म-सवत् और जन्म-स्थान के विविध शोधों के अनुरूप ही, उनकी कृतियों के विषय में भी महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया गया है। विविध खोजों के फलस्वरूप जायसी के कुल ग्रथों की सख्या २१ (इक्कीस) तक पहुँचती है परन्तु उनके नामों के अतिरिक्त और कुछ नहीं ज्ञात हो सका है।

जायसी की तीन प्रधान रचनाएँ हैं—'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम'। इनके अतिरिक्त भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध कही जाती हैं। उदाहरण के लिए—बगाल एशियाटिक सोसायटी के पास 'सोरठ' और 'उपजी' की हस्तलिखित प्रतियाँ, डा० स्प्रेंगर के पास 'घनावट' की प्रति। इससे अधिक अन्य पुस्तकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इन पुस्तकों पर जब तक पूर्णतया शोध न हो कुछ भी साधिकार कहना उचित नहीं।

अत अब तक की खोजों के आधार पर जायसी के केवल तीन ग्रथ ही प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। ये ग्रथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हैं। जिनके सम्पादक हैं आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल। रचनाक्रम के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि 'आखिरी कलाम' सर्व-प्रथम लिखा गया। एक आलोचक लिखते हैं—

"पानीपत की लडाई के तीन वर्ष पश्चात् जब बाबर 'शाह छत्रपति राजा था, उन्होंने 'आखिरी कलाम' (१५२९) की रचना की और इसके ग्यारह वर्ष बाद सन् १५४० में पद्मावत को लिखना प्रारम्भ किया। इस समय जायसी ४५ वर्ष की प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त कर चुके थे।"

डा० कमलकुलश्रेष्ठ की गणना के अनुसार जायसी का जन्म ९०६ हिजरी (१४९९ ई०) में हुआ और पद्मावत (१५२० ई०) उनकी २१ वर्ष की रचना ठहरती है। पद्मावत-जैसे प्रौढ़ काव्य की रचना २१ वर्ष का युवक करे, यह कुछ असम्भव-सी बात है। फिर 'आखिरी कलाम' (१५२९ ई०) की भाषा-शैली में प्रौढ़ता के चिह्न भी नहीं मिलते और इसमें इस्लामी भाव भरे पड़े हैं, सूफी-चिन्तन का जरा भी आभास

नहीं है। स्पष्ट है कि 'आखिरी कलाम' (१५२६ ई०) २६-३० वर्ष के युवा की रचना है। इसमें आदि से अन्त तक इस्लामी कट्टर भावना है।...भ्रम का कारण ग्रंथ का नाम जान पडता है। कदाचित् जायसी ने इसका कोई नाम ही नहीं रखा। फारसी में 'आखिरितनामा' (रोज़े-आख़िर की कथा) की परम्परा थी। इसी विचार से किसी ने ग्रंथ को 'आखिरी कलाम' कह दिया और आलोचक इस भ्रम में पड़ गये कि यह जायसी की अन्तिम रचना है। कट्टर इस्लाम से सूफीमत की ओर वढना प्रगति के चिह्न हैं। इसके विपरीत जो है, वह अध.पतन है। पद्मावत के रचयिता से हम यह आशा नहीं करते कि वह अन्तिम रचना के समय कट्टर इस्लामी विचारधारा का पोषण करे। हो सकता है 'कथा-आरम्भ-वैन' के रूप में पद्मावत की प्रारम्भिक पंक्तियाँ कवि ने मुख्य काव्य-रचना के वाद की हों। तव १५४० ई० में पद्मावत समाप्त समझा जाना चाहिए। इस प्रकार पद्मावत का रचना-काल १५२६ और १५४० ई० के वीच का समय रहेगा।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि 'पद्मावत' का रचना-काल सन् १५२६ से १५४० तक हो सकता है। 'अखरावट' के रचना-काल के विषय में सप्रमाण शोध नहीं, परन्तु सामान्य रूप से यह मान्य है कि वह पद्मावत के पहले की ही रचना हो सकती है।

यह तो रचना-काल का प्रसंग रहा। जायसी के सम्यक्-ज्ञान के लिए इन तीनों ग्रंथो का विशद विवेचन आवश्यक है। अत. काल-क्रम के अनुसार प्रथम 'आखिरी कलाम' का निरूपण उचित एवं तर्कयुक्त है।

(१) आख़िरी कलाम—यह जायसी का आदि-ग्रंथ प्रतीत होता है। इसका रचना-काल सन् १५२६ ई० है। 'आखिरी कलाम' के शब्दार्थ को ही आधार मानकर इसे उनकी अन्तिम रचना कहना युक्ति-युक्त नहीं। चाहे विषयवस्तु के दृष्टिकोण से हम 'आख़िरी कलाम' को

परखें चाहे काव्य-सुषमा और सौष्ठव की दृष्टि से—दोनों दृष्टियो से यह रचना कवि की 'अन्तिम रचना' के नाम के लिए उपयुक्त नहीं, काव्य-सौंदर्य के मानदण्ड से यह एक सामान्य रचना है। इसमें कहीं भी प्रौढ़ता दिखाई नहीं देती।

इस ग्रंथ की विषयवस्तु भी उत्कृष्ट श्रेणी की नहीं। हश्र (प्रलय) के दिन क्या सभाव्य है, यही इस रचना की कथावस्तु का आधार है। प्रलय (कयामत) के पश्चात् मुहम्मद रसूलेपाक के निवेदन पर किस प्रकार भगवान खुदा) पापियों (गुनहगारों) को क्षमा कर देंगे, इसी का वर्णन करना कवि का उद्देश्य है। 'आखिरी कलाम' में जो भाव व्यक्त किये गये हैं उनमें गहन कट्टरता टपकती है—एक दृढ मुहम्मदी के भाव व्यक्त होते हैं। कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ये भाव जायसी जैसे पहुँचे हुए सूफी फकीर एव पीर के भी हो सकते हैं। यहाँ पर कदाचित् सूफी-दर्शन के विचारो का समावेश नहीं हो पाया है। 'अखरावट' और 'पद्मावत' की उदारहृदयता की तो झलक भी नहीं है।

अत दर्शन तथा विषयवस्तु दोनो दृष्टिकोणों से 'आखिरी कलाम' अप्रौढ मस्तिष्क की रचना है। बहुत सम्भाव्य है कि फारसी-कवियों में जो 'आखिरित नामा' लिखने की परम्परा चली आ रही थी, उसी के अनुसार जायसी ने भी इस ग्रंथ की रचना की हो। डा० भटनागर का कथन है कि स्वय कवि ने उसका नामकरण नहीं किया, वरन् बाद में किसी इतर व्यक्ति ने इसे यह नाम दे दिया हो।

'आखिरी कलाम' एक सीधी-सादी रचना है। काव्य-सौंदर्य एव विषयवस्तु तथा अन्य कविता के गुणों के आधार पर इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं। हा, एक बात स्पष्ट है कि यह ग्रंथ कवि के स्वकीय जीवन पर विशेष प्रकाश डालता है। कविता में कुछ स्थल बडे मधुर बन पडे हैं। स्वर्ग का कल्पनामय वर्णन विशेष मार्मिक है।

(२) अखरावट—यह जायसी का दूसरा छोटा सा ग्रंथ है।

परन्तु इसका महत्त्व बहुत ही अधिक है। इस ग्रंथ के रचना-काल के विषय में पुस्तक में कोई संकेत उपलब्ध नहीं। सम्राट् के नाम का भी उल्लेख नहीं, जिसके आधार पर रचना-काल का अनुमान लगाया जा सके। पर यह 'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' की मध्यवर्ती रचना लगती है।

इस ग्रंथ को भी कवि ने अवधी भाषा में लिखा है। इसकी रचना चौपाई, दोहा और सोरठा छन्दो में ही हुई है। इस ग्रंथ की रचना-सम्बन्धी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। 'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' की रचनाओ में चौपाइयो (अर्द्धालियों) से आरम्भ कर बाद में दोहा और फिर सात अर्द्धालियों का क्रम रखा गया है। साथ-ही-साथ स्तुति-खण्ड इत्यादि से कथा का आरम्भ किया गया है।

इसके विपरीत 'अखरावट' का आरम्भ दोहा और सोरठा से हुआ है। अर्द्धालियां उनके बाद में आई हैं। किसी भी प्रकार की भूमिका और प्रस्तावना आदि नहीं दी गई है यह इस ग्रंथ की बड़ी विशेषता है कि इसका समारम्भ सीधे प्रतिपाद्य विषय से कर दिया गया है।

गगन हुता नहि महि हुती, हुते चद नहि सूर।
ऐसइ अधकूप महं, रचा मुहम्मद नूर॥

'अखरावट' दर्शन-प्रधान ग्रंथ है। इसमें आद्यान्त आध्यात्मिक विचारों का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ की रचना का मूल उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि कवि इसके द्वारा अपने सिद्धान्तो का विशद विवेचन करना चाहता है और चाहता है दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विचारों की सम्यक् व्याख्या। यह सत्य है कि 'अखरावट' में दर्शन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है परन्तु जायसी की दार्शनिक मीमांसा 'पद्मावत' के बिना पूर्ण नहीं होती। यदि 'अखरावट' में सिद्धान्तो का वर्णन है तो 'पद्मावत' में उनका स्पष्टीकरण। यदि पहले में कोरे फारमले हैं तो दूसरे में उनकी उपपत्ति।

इससे यह भी स्पष्ट है कि 'अखरावट' 'पद्मावत' से पहले की रचना हो सकती है।

'अखरावट' और 'पद्मावत' के अध्ययन से यह ज्ञान हो सकेगा कि कवि की साधना-पद्धति पर हठयोग का पर्याप्त प्रभाव है। दोनों ग्रंथ इस प्रतिपाद्य की पुष्टि करते हैं, परन्तु 'अखरावट' में कवि ने इस साधना का सविस्तार निरूपण नहीं किया है, 'कुण्डलिनी उद्‌बोधन', 'इडा-'पिंगला-सुषुम्ना', और 'चक्रभेदन' का केवल उल्लेख-मात्र किया है इसमें भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अखरावट' 'पद्मावत' की पूर्ववर्त्ती रचना है।

'अखरावट' कवि की महत्त्वपूर्ण रचना है। 'पद्मावत' के तुल्य ही 'अखरावट' का हिन्दी-साहित्य के धार्मिक क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। दोनों ग्रन्थों के पारायण से कवि के धार्मिक विचार उसके दर्शन और अध्यात्म का पूर्ण बोध हो जाता है। सीधी-सादी भाषा के कारण सर्वजन-सुगमता इसका विशेष गुण है। डा० भटनागर के शब्दों में सीधी-सादी भाषा में वेदान्त और तत्त्व-दर्शन को जनग्राह्य बनाने की पहला सफल चेष्टा इन ग्रंथो (पद्मावत और अखरावट) में मिलेगी।" अत निर्विवाद है कि सूफीमत और सूफीदर्शन के ज्ञान के लिए इस ग्रन्थद्वयी का अध्ययन अनिवार्य है।

'अखरावट' की विषयवस्तु ब्रह्माण्ड की रचना, जीव का विवेचन, ब्रह्म से जीव का अनुबंध, पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता, साधना—इसकी आवश्यकता और उपयोगिता—आदि है। इन वस्तुओं का विशिष्ट विश्लेषण जो सरलतापूर्वक सर्वग्राह्य हो कवि का प्रतिपाद्य है। 'अखरावट' में साधना के विषय में कवि के बड़े सुलझे हुए विचार उपलब्ध होते हैं।

'अखरावट' और जायसी का साधना-पथ

सूफीमत में सहिष्णुता और उदारता ओतप्रोत है। जायसी का तो

यह विशेष गुण था। 'अखरावट' तथा अपने अन्य काव्यों में यदि उन्होने सूफीमत और तत्सम्बन्धी साधना-मार्गों में अपनी महती श्रद्धा प्रकट की है तो अन्य धर्मों को भी उन्होंने समानाधिकार दिया है। उनमें कभी अविश्वास प्रकट नहीं किया। वे स्वीकार करते हैं कि सब धर्मों के साधना-पथ सफलता ला सकते हैं। यद्यपि मुहम्मदी मार्ग उन्हें विशेष प्रिय है और उसको वे श्रेठ और निर्मल बताते हैं, फिर भी यह स्वीकार करते हैं कि साधक चाहे जिस म र्ग से खोजे, अपनी साधना की अन्तिम अवस्था में उसे भगवान् के दीदार होते हैं। वे कहते हैं—

सो बड पथ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा ।।
लिखि पुरान विधि पठवा साचा। भा परवीन, दुवौ जग बाँचा ।।
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप, पुन्नि सुन लागै ।।

मुहम्मद का मार्ग बडा है, निर्मल है। ईश्वर ने सच्चा पुरान (कुरान) लिखकर भेजा। दोनो जग (देवलोक और मानवलोक) ने उसका अध्ययन किया और प्रवीण बन गया। उसका श्रवण करते ही दानव (नारद) भाग खड़ा होता है। सब पापों से मुक्ति मिल जाती है तथा पुण्य प्राप्त होता है। इसके होते हुए भी ये सहज भाव से स्वीकार करते हैं कि—

विधना के मारग हैं तेते, सरग-नखत तन-रोवाँ जेते।
जेइ हेरा तेइ तहँवाँ पावा, भा सतोप, समुझि मन गावा ।।

ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग उतने हैं जितने आकाश में नक्षत्र हैं, जितने शरीर में रोम-छिद्र हैं। जिसने ईश्वर को जहाँ ढूंढ़ा वहीं पाया, मन में समझ लिया और संतुष्ट हो गया।

सूफी सतो में गुरु की महिमा बहुत बड़ी है। गुरु में ही सामर्थ्य है कि वह भवसागर की शरीर-नौका उस पार लगा सके। अत: संसार से निवृत्त होने के लिए योग्य गुरु का चयन नितान्त आवश्यक है। क्योंकि—

जेहि पावा गुरु मीठ, सो सुख-मारग मँ चलै।
सुख अनन्द की डीठ, मुहमद साथी पोढ जेहि ।।

जिसका गुरु मीठा अर्थात् सर्व गुणों से पूर्ण और परिपक्व हो, तथा प्रौढ़ अर्थात् अत्यन्त विकसित और उन्नत हो, पहुँचा हुआ फकीर हो, तो सुख-आनन्द की प्राप्ति अनिवार्य है। गुरु ही आनन्द एव गति का दाता है।

साधना द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना ही सूफी सम्प्रदाय का लक्ष्य नहीं, वरन् ब्रह्म में लीन होना, एकमय होजाना अन्तिम अभीष्ट था। 'अनहलक जोकि 'अहम् ब्रह्मास्मि' का पर्य्याय है, उनका मूल मन्त्र था—केवल बाह्य आचार ही पर्याप्त नहीं यह भली भांति समझ कर शरीरस्थित ब्रह्म—जो स्वय परमानन्द हैं, सच्चिदानन्द हैं—की प्राप्ति उनका ध्येय है उनका कथन है —

ढूंढ उठे लइ मानिक मोनि, जाइ समाइ जोति महँ जोती।

यह अल्प-जोति उस प्रकाश-पुज परमज्योति में विलीन होकर पूर्ण बन जाय, यही उनके हृदय की लालसा थी।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह ज्योति किस प्रकार उस परम जोति में मिले, कौन-सा साधन अपनाये। सूफी सम्प्रदाय के मतानुसार वह साधन प्रेम और विरह का है। सृष्टि-रचना का उनका सिद्धान्त यह है कि आदि में जीव और ब्रह्म एक थे। उनमें भेद बाद में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार जीव के लिए जो वियोग हुआ वह असह्य हो उठा तथा वह आदि जैसी अभिन्नता और एकता के लिए तड़पने लगा। उसमें ब्रह्म के/लिए पीर उठी। वह थी प्रेम की पीर। मिलन के लिए उत्कठा उठी। मिलन न होने पर गहन वेदना का उद्भव हुआ। वियोग-विह्वल जी तड़पने लगा। यह तड़पना ही विरह की अनुभूति है। यही विरह, वियोग या वैराग्य उनकी साधना का आधार है। उस वियोग की पीर को अनुभव करता हुआ योगी सत कितना विभोर हो उठा है, कितना विह्वल है, वेदना कितनी मर्मस्पर्शी है, उत्कठा कितनी तीव्र है, यह इन पक्तियों से भली भाँति प्रकट हो जाता है—

हुआ जो एकहि संग, हौ तुम काहे बीछुरे।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ कछु ॥

विरह की दु:खदायी अवस्था में प्रेम की वेधती तरगें उठने लगी हैं, जो वाणी को मूक बना देती हैं; समस्त इन्द्रियों को एवं पूर्ण शरीर को निश्चेष्ट, निष्क्रिय किंकर्त्तव्यविमूढ़ किये देती हैं। केवल एक सुधि रहती है, एक वाक्य ही बार-बार याद आता है जो हम-तुम कभी एक-साथ थे, तो अब तुम मुझसे क्यों बिछुरे हो।' मूल में प्रेम-विनय है कि हम फिर मिलकर कब एक होंगे। पर वह मिलन हो कैसे ?

इस पुर्नमिलन का साधन है 'अहंभाव का विनाश'। पहले जीव ब्रह्म में था, उसकी कोई वैयक्तिक सत्ता न थी। उसका कोई स्वकीय अस्तित्व न था। परन्तु अलग होने पर उसका अपना व्यक्तिगत स्थान हो जाता है। उसमें 'अहम् भाव' का समावेश हो जाता है। यही 'अहम्' जितनी मात्रा में बढ़ता जाता है, 'जीव' उसी अनुपात में ब्रह्म से दूर खिंचता जाता है। ज्यों-ज्यों 'अहम्' का विनाश होता जाता है, त्यों-त्यों वह जीव ब्रह्म को प्राप्त करता जाता है। 'अहम् के पूर्ण विनाश पर ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए सूफी सन्तों ने अपने-आपको खो देने का, अहम्' को मिटा देने का पथ अपनाया। उनका स्पष्ट मत है—

आपुहि खोइ ओहि जो पावा। सो बीरौ मनुलाह जमावा ॥
जो ओहि हेरत जाइ हेराई । सो पावै अमृत-फल खाई ॥

इस 'अहम्' के खो देने के भाव को जायसी बार-बार दुहराते हैं क्योंकि इसमें उनकी दृढ प्रतीति है। कहते हैं—

कठु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया ॥
तहँ नहि हँसी न रोज, मुहमद ऐसे ठाँव वह ॥

प्रियतम को ढूंढ़ लेना नाकों चना चबाना है। जो उसे पा लेता है,

वह मरकर भी जी जाता है। यह ऐसा स्थल है जहाँ हँसी-खेल को कोई स्थान नहीं।

अहम् को खो देने से प्रिय मिल जायगा, ऐसा जायसी को पूर्ण विश्वास है, इसलिए वे सबसे अपने को खोकर उसे प्राप्त कर लेने का मार्ग बताते हैं।

आपुहि खोए पिउ मिले, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूधि विचारि मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

डा० भटनागर का जायसी-सम्बन्धी शोध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जायसी की साधना पर उनके विचार ये हैं—

"हम देखते हैं कि जायसी की साधना का आधार औपनिषदिक ब्रह्म-वाद है, उन्होंने ब्रह्म को कायानिष्ठ मानकर योग की अनेक साधनाओं को अपनाया है, और कट्टर इस्लामी मत के बाह्याचारों को स्वीकार करते हुए उपनिषदो के ब्रह्मवाद और योग के 'चक्र भेदन' के आधार पर इन इस्लामी बाह्याचारो की नई व्याख्या की है, जिनसे उनका रूप ही बदल गया है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अखरावट' अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थ है। इसके द्वारा कवि ने सासारिकता में न फँसकर सच्चिदानन्द की उपा-सना करने के लिए सबको प्रेरित किया है। वह उपासना-मार्ग प्रेम-मार्ग है। इस प्रेम-मार्ग का सागोपांग विश्लेषण और प्रयोगात्मक स्वरूप जायसी ने 'पद्मावत' में उपस्थित किया है। इसलिए यह कवि का अमर अनमोल ग्रन्थ बन पड़ा है। अब हम उसी महाकृति का निरूपण करेंगे।

पद्मावत—आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल जी 'पद्मावत' की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि " 'पद्मावत' में प्रेमगाथा की परम्परा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। यह इस परम्परा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग है।"

प्रेमाख्यानक परम्परा में 'पद्मावत' सर्वोत्कृष्ट है ही, परन्तु साथ ही साथ उस काल तक के रचित समग्र हिन्दी-साहित्य में भी उसका स्थान सर्वोपरि है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि हिन्दी-साहित्य का यह सर्वप्रथम सफल प्रबन्ध-काव्य है। चित्तौड की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिन्दू-हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाला है। यह तो स्पष्ट ही है कि जायसी ने इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ही ली है। परन्तु कथा का स्वरूप वह रखा है जो कल्पना के आधार पर बड़े मनोरंजक रूप में जनता के हृदयों में व्याप्त था। इस कारण इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है, परन्तु उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर सत्य है।

पद्मावत का रचनाकाल हम पूर्व ही निश्चित कर आये हैं। शुक्ल-जी के मतानुसार वह सन् १५२० की रचना है। परन्तु अन्य लक्षणों और प्रमाणों के आधार पर दूसरा मत भी प्रतिपादित है। यह पक्ष अधिक पुष्ट हो पाता है कि यह सन् १५२९ से १५४० की मध्यवर्ती रचना है। 'आखिरी कलाम' और 'अखरावट' इनकी पूर्ववर्ती रचनाएँ हैं।

पद्मावत एक विचित्र समन्वय है। पद्मिनी या पद्मावती की कथा की परम्परा पुराणों से चली आ रही है। कल्कि पुराण में यह आख्यान आता है। यह चतुर्थ अध्याय के २७वें श्लोक से प्रारम्भ होता है। इसका विशद उल्लेख आचार्य चतुरसेनजी ने अपने इतिहास में किया है।

सिंहलद्वीप का शिवदत्त नामक वाचाल तोता कल्कि के पास आता है और कहता है—मैं सिंहलद्वीप से आ रहा हूँ। वहाँ त्रैलोक्य-सुन्दरी राजकुमारी पद्मिनी राजा वृहद्रथ की पुत्री है। उसे शिव ने वर दिया है कि तेरे पति नारायण हैं, दूसरा जो कोई पुरुष तुझे पत्नी-भाव से देखेगा वही स्त्री-रूप हो जायगा। कुछ दिन हुए राजा ने स्वयंवर की योजना की थी, जिसमें देश-देश के रूप-गुण-सम्पन्न राजा आये, पर वे कुमारी को

देखते ही स्त्री हो गये और अब दासी-भाव से उसी की सेवा करते हैं। और वह कुमारी इसी चिन्ता में दुखी है कि उसे कैसे वर प्राप्त होगा।

इस पर कल्कि ने कहा—हे तोते, मैं ही वह विष्णु का अवतार हूँ। तू सिंहलद्वीप में जा और राजकुमारी को हमारी ओर से प्रबोध कर। तोता उडकर सिंहलद्वीप में जा पहुँचा। और राजकुमारी को कल्कि का सदेश कहा। राजकुमारी ने प्रसन्न होकर कहा—अरे शुक। मैं तेरी चोंच में उत्तम पद्मराग मणि बँधवाऊँगी और कण्ठ में सूर्यकान्त मणि पहनाऊँगी और तुम्हारे पखो को और शरीर को कुकुम से चित्रित कराऊँगी, पूँछ में मणि गूँथूँगी और पैरो में नूपुर सजाऊँगी। तू जाकर कल्कि से यहाँ का सब हाल कह और उन्हें यहाँ का।

कुमारी द्वारा समादृत हो शिवदत्त पुन कल्कि के पास पहुँचा। यह सब वर्णन सुनकर कल्कि घोडे पर चढ़कर सिंहलद्वीप में पहुँचे। एक सरोवर के किनारे डेरा डाला। शुक को पद्मिनी के पास भेजा। राजकुमारी सहर्ष आई। सखी-सहेलियाँ भी साथ-साथ स्नान के लिए आईं।

सरोवर-तट पर कल्कि से प्रेमालाप हुआ। सारा सदेश राजा तक पहुँचा। राजा ने आदरपूर्वक कल्कि का स्वागत किया, तथा पद्मिनी के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

यह पौराणिक गाथा की परम्परा से आई हुई कथा है। कर्नल टाड ने चित्तौड के इतिहास से सम्बन्धित पद्मिनी की कथा लिखी हैं। पद्मिनी-अलाउद्दीन की वही कथा जो प्राय इतिहास-प्रसिद्ध है, उसका ही उन्होंने वर्णन किया है।

पद्मिनी चित्तौड के राणा भीमसेन की रानी थी। वह लोकोत्तर सुन्दरी थी। उसके रूप की ख्याति सुनकर दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने राजा से उसे अपनी बेगम बनाने को माँगा और राजा के अस्वीकार करने पर चित्तौड पर चढ़ाई कर दी। बहुत प्रयत्न करने के बाद भी चित्तौड का अजेय दुर्ग विजय न हुआ। तब उसने राणा के

पास एक संदेश भिजवाया जिसमें उसने कहलाया कि यदि रानी का रूप वह दर्पण में दिखा दे तो वह सन्तुष्ट हो घर लौट जायगा। राजपूत-मर्यादा के विरुद्ध होते हुए भी राजा ने स्वीकार कर लिया। विदा होते समय राजा अलाउद्दीन को द्वार तक पहुँचाने आया। परन्तु छली-कपटी अलाउद्दीन के सैनिक बाहर घात लगाये बैठे थे। द्वार पर आते ही, अकेला पा, उन सबों ने राणा को पकड़ लिया और ले भागे। किले से उस समय राजा को कोई सहायता न मिली।

इसके आगे हमें पद्मिनी के सतीत्व एवं पातिव्रत्य का एक सच्चा उदाहरण उपलब्ध होता है। पद्मिनी ने एक उपाय रचा। उसने इस विषय में गोरा बादल की सहायता ली। उसने सुलतान को सूचना दी कि यदि वह राणा को मुक्त कर दे तो वह उसके पास आने को प्रस्तुत है। कामुक अलाउद्दीन ने यह शर्त स्वीकार कर ली। पद्मिनी ने सात सौ पालकियाँ मँगवाई। प्रत्येक पालकी में दो-दो योद्धा भीतर बैठे और चार-चार योद्धा कहार के वेष में डोली उठाकर चले। सब अपने अस्त्र-शस्त्र छिपाये थे। एक बढ़िया पालकी में गोरा रानी बनकर बैठा। बादल एक बढ़िया घोड़े पर सवार होकर उसके साथ-साथ चला। डोलियाँ पहुँचकर पर्दे में कनात के भीतर उतारी गईं। तब रानी ने प्रार्थना की कि वह राणा से अन्तिम भेंट करना चाहती है। सुलतान ने आज्ञा दे दी। अवसर पाकर गोरा ने राणा की बेड़ियाँ काट दीं और हथियार से लैस कर दिया। बादल ने घोड़ा दे दिया और राणा भाग निकले। तथा गोरा बादल के समस्त कहार सैनिक सुलतान के सैनिकों पर टूट पड़े। असंख्यों को काट डाला। इस प्रकार की पराजय से खीझकर अलाउद्दीन ने रोष के साथ चित्तौड़ पर आक्रमण किया। राणा तथा सब सीसोदिया खेत रहे। रानी पद्मिनी अपनी पाँच हजार रनवासों के साथ जौहर करके जल मरीं। जब अलाउद्दीन ने उसे प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रासाद में किया तो उसे पद्मिनी नहीं, पद्मिनी की चिता के अंगारे मिले।

जायसी ने इन दोनो का सम्मिश्रण करके अपूर्व कौशल तथा कल्पना-वैचित्र्य का उदाहरण समुपस्थित किया है। जायसी के पद्मावत का सार यह है—

सिंहलद्वीप के नृपति गन्धर्वसेन की पद्मावती नामा पुत्री अत्यन्त ही लावण्यवती थी। अत उसके लिए सर्वरूपगुण-सम्पन्न वर नहीं प्राप्त हो रहा था। पद्मावती के पास हीरामन नामक एक तोता था जो पूरा पण्डित और वाचाल था। दैववश एक बार वह तोता एक बहेलिये द्वारा जाल में पकड लिया गया। बहेलिये ने उस तोते को,चित्तौड के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस तोते को राजा रतनसेन ने एक लाख रुपये में खरीद लिया। रतनसेन की महारानी ने एक बार पूछा—'क्या मुझसे भी अधिक सुन्दरी कोई इस ससार में हो सकती है?' तोते ने अवसर पाकर पद्मिनी अथवा पद्मावती का बडा बखान किया। इसे सुन रानी को बडा द्वेष हुआ तथा तोते को मार डालने के लिए एक दासी को दे दिया। दासी को दया आ गई, उसने उसे मारा नहीं, वरन् छिपा लिया। उस तोते को उसने राजा को समर्पित कर दिया और पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने जब पद्मिनी के रूप का वर्णन सुना तो वह उसके प्रेम में व्याकुल हो योगी बनकर सिंहल की ओर चला। यही नहीं, साथ में अन्य सोलह हजार योगी भी ले लिये। हीरामन सबका पथप्रदर्शक बना। योगियों का वह महासमुदाय कलिंग होते हुए सिंहलद्वीप पहुँचा। तोते द्वारा सूचित किये जाने पर पद्मिनी शिवपूजन के बहाने आई। उसके अलौकिक लावण्य को देखकर राजा सज्ञाशून्य हो गया। पीछे शिव से वरदान प्राप्त कर राजा ने प्रासाद पर चढने का आयास किया। यह नियम-विरुद्ध कार्य था। अत. वह राजा हथकडियों में बाँधा जाकर नृपति के सम्मुख लाया गया। न्याय द्वारा शूली पर चढाने की आज्ञा दी गई। इसे सुनकर सोलह हजार योगियों के साथ स्वय शिव ने गढ़ को घेरा। अन्य देव-समुदाय भी उसकी सहायता के निमित्त वहाँ पहुँच गया। उनसे गन्धर्वसेन पराजित

हुआ। उसने पद्मावती का रतनसेन से ब्याह कर लिया। फिर दोनों चित्तौड आ गये।

चित्तौड़ के एक द्वेषी ब्राह्मण ने दिल्ली जाकर अलाउद्दीन से पद्मिनी को भूरि-भूरि प्रशसा की। इस पर कामुक अलाउद्दीन ने पद्मिनी को राजा से माँगा। इसके पश्चात् ही आक्रमण भी कर दिया। छल से प्रेरित होकर सन्धि कर ली। राजा ने उसे प्रीतिभोज में आमन्त्रित किया। जब वे दोनों शतरज खेल रहे थे, अलाउद्दीन ने पद्मिनी की एक झलक शीशे में देख ली वह विह्वल हो उठा। जब विदा के समय राजा द्वार तक आया तब अलाउद्दीन के इंगित से उसके सिपाहियों ने उसे कैद कर लिया, और दिल्ली ले भागे। पद्मिनी ने ७०० डोलियो में सैनिक छिपाकर दिल्ली भेजे। सुलतान को यह कहलवा भेजा कि वह एक बार राजा से भेंट करेगी। आज्ञा पाते ही रानी की पालकी राजा की कोठरी में ले जाई गई। वहाँ पालकी में से निकलकर एक लुहार ने राजा की हथकड़ी-बेडी तोड़ डाली। राजा घोड़े पर चढकर निकल भागा। सैनिक अलाउद्दीन की सेना से घमासान युद्ध करने लगे। रतनसेन जब चित्तौड़ पहुँचा तो पद्मिनी ने राजा से कुम्भलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूतो भेजने की बात कही। इस पर रतनसेन ने कुम्भलनेर पर चढाई की और इस लड़ाई में दोनों राजा मारे गये। रतनसेन का शव चित्तौड़ लाया गया और दोनों रानियाँ उसकी चिता पर जल मरीं। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा तो उसने वहाँ राख के ढेर के सिवा कुछ न पाया। यह सक्षेप में जायसी की कथा का सार है।

इस कथा का इस सीमा तक अवलोकन करने पर यही ज्ञात होगा कि यह तो केवल प्रेमगाथा है। परन्तु जब हम काव्य के अन्त्य भाग की ओर अग्रसर होते हैं, एक विशेष आश्चर्य-मिश्रित आनन्द की अनुभूति करते हैं जब देखते हैं कि कवि का उद्देश्य केवल लौकिक प्रेम का वर्णन ही नहीं है, वरन् लौकिक के माध्यम से उस अलौकिक, उस पारलौकिक

प्रेम की अभिव्यंजना है।

कवि ने स्वय अपनी रचना में पद्मिनी और रतनसेन से प्रेम का आध्यात्मिक आरोपण किया है। इस प्रकार रचना को अन्योक्ति का महत्त्व भी दिया है। इस आरोपण के आधार पर यह शरीर चित्तौडगढ़ है, मन रतनसेन है, नागमती दुनिया-धधा है, सिंहलद्वीप हृदय का व्यजक है, प्रज्ञा पद्मावती स्वय है, अलाउद्दीन माया का साक्षात् स्वरूप है, राघव-चेतन शैतान का प्रतिरूप है और तोता समर्थ पथप्रदर्शक गुरु है।

जायसी के काव्य की प्रधान विशेषताएँ

(१) **शृङ्गार-वर्णन**—प्रेम-कथा का प्राधान्य होने से पद्मावत शृङ्गार-प्रधान काव्य है। इसमें शृङ्गार के उभयपक्ष—विरह और मिलन—का सफल सागोपाग वर्णन है। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा अनुभव होने लगता है कि सयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रण में कवि अधिक सफल रहा है। विप्रलभ-शृङ्गार जायसी की अनुपम विशेषता है। नागमती का विरह-खण्ड और सदेश-खण्ड हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। उच्चकोटि का विरह-चित्रण इतने उत्कृष्ट रूप में केवल एक इसी काव्य में परिलक्षित होता है।

(२) **प्रकृति-चित्रण**—सामान्यत प्रकृति-चित्रण दो प्रकार का होता है—(क) अन्त प्रकृति-चित्रण (ख) बाह्य प्रकृति-चित्रण।

पद्मावत मूल में वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है, अत एक प्रकार के ही चित्रण से वर्णन एकांगी हो जायगा। अन्तर्जगत् का बाह्य जगत् से सामञ्जस्य दिखाने वाला कवि पारखी होता है। अन्त प्रकृति-चित्रण की कोई अनुपम विशेषता हमें जायसी में नहीं मिलती। स्थूल अन्तर्जगत् ही हमारे सामने आता है, जिसे हम सरलता से ग्राह्य बना लेते हैं। अन्तर्जगत् की बारीकियाँ नहीं आने पाई हैं। आदर्श प्रेम ही रत्नसेन का एकमात्र लक्ष्य है। उस

प्रेम-साधना में साहस, कष्ट-सहिष्णुता, त्याग, कोमलता आदि गुण अथवा दुराग्रह, हठ और अधीरता आदि कमियाँ उसमें दिखाई पड़ती हैं। और ध्यान देने योग्य बात यह कि उन सबका उद्भव प्रेम से ही होता है। स्वाभाविक गुणो या दोषों के रूप में उनका विकास होता दिखाई नहीं पडता। यदि प्रेम-मार्ग के अतिरिक्त जीवन के अन्य व्यापारो में भी वे गुण-दोष दिखाई पडते तो वे रत्नसेन के व्यक्तिगत स्वभाव में माने जाते। इसी प्रकार 'पद्मावत' के सभी चरित्रों में आदर्शमूलक गुणावगुण पाये जाते हैं, स्वभावमूलक अथवा व्यवहारमलक नहीं। चरित्र का मनो वैज्ञानिक तथा बहुअगी स्वरूप, जो तुलसीजी के 'मानस' में सुलभ है, यहाँ दृष्टिगत नहीं।

बाह्य प्रकृति-चित्रण—जायसी का वाह्य प्रकृति-चित्रण सचमुच अनुपमेय है। साथ-ही-साथ यह बडी विशेषता है कि उनका प्रकृति-प्रेम केवल प्रकृति-मात्र के लिए ही प्रेम नहीं वरन् ईश का आवास्य होने के नाते प्रेम है। जायसी ने प्रकृति-चित्रण के लिए विविध शैलियों को अपनाया है। विभिन्न प्रकारों से उन्होने सूक्ष्म चित्रण करने का प्रयास किया है। उनको सक्षेप से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) अत्युक्ति-शैली—अत्युक्ति में सर्वदा कल्पना का पुट रहता है, अत इस शैली से हमें जायसी के कल्पना-उत्कर्ष और भाव-वैचित्र्य का परिचय मिलता है। कवि ने प्रतिपाद्य विषय तो ऐसा लिया है जो देखने में अत्यन्त ही सामान्य और साधारण है। साधारण को भी असाधारण, सामान्य को असामान्य और अद्वितीय बना देने में इनकी प्रतिभा परिलक्षित होती है। इस शैली में कवि ने अनेक स्थानो पर प्रकृति के सजीव चित्र उपस्थित किये हैं। सातों समुद्रो का चमत्कारपूर्ण कल्पता-प्रसूत वर्णन जायसी की इस कल्पना-शक्ति का प्रमाण है। इस शैली का प्रयोग षड्ऋतु-वर्णन में प्रचुर-मात्रा में किया गया है।

(ख) उपमा-शैली—इस शैली में कवि ने नख-शिख का वर्णन

तथा स्वभाव-वर्णन किया है। यह जायसी की प्रमुख विशेषता है। इसमें वे सब कवियों से आगे बढ जाते हैं। इनके काव्य में यह शैली आद्यन्त दृष्टिगोचर होती है।

(ग) रहस्यात्मक शैली—रहस्यवादी शैली अन्योक्ति-प्रधान होती है। रहस्यवाद तो जायसी का प्रमुख वाद है। 'पद्मावत' की सम्पूर्ण कथा ही रहस्यात्मक है। लौकिक रूप में कथा कहते हुए भी वे परब्रह्म, जीव, माया आदि के निरूपण का ही लक्ष्य रखते हैं क्योंकि 'पद्मावत' के अन्य भागों में उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है—

'नागमती यह दुनियाँ-धधा' आदि।

(घ) प्रतीक-शैली—किसी एक प्रतीक द्वारा भावों को सुन्दर रूप में व्यक्त करने का आयास नित्य से सूफ़ी कवियो की विशेषता रही है। स्थान-स्थान पर भावों और चरित्रों की अभिव्यजना के लिए सूरज-चाँद, भ्रमर-कमल आदि प्रतीकों का मुहुर्मुहु प्रयोग किया गया है। जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के स्थान पर इन प्रतीको का उपयोग किया है। दूसरे स्थल हैं आध्यात्मिक अर्थों को स्पष्ट करनेवाले, जहाँ पर अभिधा को पूर्णतया छोडकर कवि ने प्रतीकों द्वारा व्याख्या की है।

(ङ) परिगणन-शैली—यह शैली यद्यपि बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं, फिर भी इसका उपयोग जायसी के काव्यो में प्रचुर है। प्रकृति की वस्तुओं की गणना, अधिकाधिक रूप में उनका वर्णन पर्याप्त रूप से उपलब्ध है। सिहलद्वीप के वर्णन में इस शली के उदाहरण प्राप्त हो सकते है। वृक्षों की, फलों की, फ्लो की, अश्वों की एक लम्बी अनुक्रमणिका उपस्थित कर दी गई है। यद्यपि यह शैलो रस और रसाभास का व्यावर्त्तन करती है, फिर भी यत्रतत्र प्रकृति का एक सत्य-चित्र खींच लेने में समथ हो जाती है।

(३) रस—शैली के उपरान्त हम रस के परिपाक का निरूपण करें। 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तो अधिकतया अध्यात्म-प्रधान

है। इसमें भक्ति का पुट है जो प्रेम और विरह की झाँकी के द्वारा प्रस्तुत है। रसों का सानुपातिक सम्मेलन 'पद्मावत' में यथाविधि हो पाया है।

पद्मावत शृङ्गार रस-प्रधान ग्रन्थ है। शृङ्गार-रस के उभयपक्ष—संयोग और वियोग दोनो का सफल निरूपण किया गया है। 'षड्-ऋतु-वर्णन' में संयोग-शृङ्गार के उत्कर्ष का स्वरूप और 'बारहमासा' में वियोग-शृङ्गार का मर्मस्पर्शी वर्णन उपलब्ध है। उदाहरण से अधिक स्पष्टीकरण हो सकेगा। पावस की ऋतु का समागम है। संयोग की लालसा का कैसा अद्भुत चित्रण है—

चमकै बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रँगराती पीतम सँग जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी।

यह तो पद्मावती का मिलन-प्रसंग है। दूसरी ओर नागमती का विरह-वर्णन है। उसके लिए भाद्रपद मास कैसा प्रतीत हो रहा है, इसका एक पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है—

रहौं अकेली गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।
चमक बीजु घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।
बरसै मेघा झकोरि झकोरी। मोर दोउ नैन चुवैं जस ओरी।

इस प्रकार मिलन और विरह के चित्र जायसी द्वारा बड़े हृदय-स्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हैं। संयोग के स्थूल चित्रण अधिकतया अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाते हैं। फिर कवि उन्हे आध्यात्मिक आवरण में ढँककर उस अश्लीलता के निराकरण का प्रयत्न करता है।

विप्रलंभ-शृङ्गार उनकी महती विशेषता है। इसमें समस्त हिन्दी-संसार में कोई इनके समकक्ष नहीं।

शृङ्गार रस के अनुगामी बनकर, अन्य कई रस भी परिपाक के उपादान बनते हैं। हास्य, करुण, वत्सल, वीर, शान्त और वीभत्स रस का भी यथोचित समावेश है। वत्सल रस के, शान्त रस के और हास्य

रस के छोटे-छोटे प्रसग अनेक स्थानों पर आये हैं । वीर रस प
शान्त और वीभत्स रसों का उत्तरार्द्ध में समावेश हुआ है । करु
जोगी-खण्ड और सती-खण्ड में व्याप्त है।

अलकार—हम ऊपर कह आये हैं कि जायसी प्रतीकों के
से प्रचुर मात्रा में अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति कर
अत 'पद्मावत' में सादृश्यमूलक अलकारों की अधिक योजना है ।
कार-विधान में जायसी ने अधिकतर कवि-परम्परा का निर्वाह
है। जायसी के उपमान भावों को स्पष्ट करनेवाले, उन्हें तीव
वाले तथा रसोद्रेक करनेवाले हैं । उनके उपमान सर्वथा प्रकृति से
किये गये हैं । सादृश्यमूलक अलकारो में जायसी ने उपमा, रूप
उत्प्रेक्षा की ही अधिक योजना की है । इन सब में हेतूत्प्रेक्षा का
अत्यधिक हुआ है । इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति अलकार का
ने अतिशय प्रयोग किया है। स्वभावोक्ति और अन्योक्ति तो इनके
अलकार हैं ही। इन्हीं के सहारे इस आध्यात्मिक कथा को रूपक
में उपस्थित किया है । अलकारों की योजना में पूर्ण स्वाभावि
और सफलता है, इसमें तनिक सन्देह नहीं।

भक्त सूरदास

परिचय

जिस भक्त कवि ने सुललित पदो में हरि-जस का गायन कर ससार के मोहान्धकार को दूर किया, आज उसी के जीवन-वृत्त को अन्धकार से निकालने की चेष्टा चल रही है, परन्तु अभी तक उस पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ सका। सूरदास जी का जन्म-संवत् क्या था, इस पर विद्वान् एकमत नहीं। कुछ इनका समय सं. १५४०, कुछ १५३५ और अन्य १५३० मानते हैं। सूरसारावली के इस पद से—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ वरस प्रवीन।

यह स्पष्ट है कि सूरसारावली की रचना सूर ने ६७ वर्ष की आयु में की थी। विद्वानों का यह अनुमान है कि सूरसारावली और साहित्य-लहरी की रचना प्रायः एक-साथ अथवा एक-आध वर्ष के अन्तर से हुई। साहित्य-लहरी का समय विद्वानो ने इस पद से—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि, सुवल सवल पेख॥

निकालने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर मुनि से तात्पर्य ७, रसन से ०, रस से ६ और गौरीनन्द से १ का तात्पर्य हैं। अन्य कुछ विद्वान् रसन से १ का भी तात्पर्य लेते हैं और श्री मुंशीराम तो रसन से २ का अनुमान करते हैं।

इस प्रकार 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार साहित्य-लहरी का

रचना-काल विभिन्न लोगों ने स० १६०७ स० १६१७ और स० १६२७ आँका है और इन्हीं सवतों के आधार पर उन्होंने सूर की जन्म-तिथि का अनुमान किया है। आचार्य शुक्ल १६०७ सवत् के अनुसार सूर का जन्म स० १५४० मानते हैं। परन्तु साहित्यलहरी और सूरसारावली एक ही काल में लिखी गईं, यह अनुमान सभी विद्वानों को मान्य नहीं है।

इस अन्त साक्ष्य के अतिरिक्त वहि साक्ष्य के आधार पर भी सूर का काल-निर्णय करने की चेष्टा की गई है। पुष्टि-सम्प्रदाय में सूरदासजी आचार्यजी से १० दिन छोटे माने जाते हैं। इसका सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण 'निज-वार्ता' है। आचार्यजी का जन्म स० १५३५ माना जाता है। अत. सूर का भी जन्म-सवत् १५३५ मान लिया गया है। अन्य विद्वान् आचार्यजी का जन्म स० १५३५ के स्थान पर १५३० मानते हैं, अत सूर भी १५३० में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार ये तीनों सवत् ही विभिन्न विद्वानों के अनुसार सूरदास के जन्म-सवत् ठहरते हैं।

सूरदास का जन्म किस वश में हुआ था—यह प्रश्न और भी विवाद-ग्रस्त है। साहित्य-लहरी में प्राप्त होनेवाली वशावली के अनुसार सूर पृथ्वीराज के दरवारी कवि चन्द के वशज हैं, अत उनकी जाति ब्रह्मभट्ट है परन्तु विद्वानों के अनुसार यह वशावली सूर की लिखी नहीं, वाद का प्रक्षेप है, अत. उनकी जाति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

साहित्यलहरी की इस वशावली में सूरदास के पिता का नाम नहीं दिया हुआ। आइने-अकवरी में सूरदास को दरवारी कवि कहा गया है और उनके पिता का नाम रामदास बताया गया है, परन्तु जब अकवर गद्दी पर वैठा उस समय सूर अवश्य ही काफी वृद्ध हो चुके होंगे। अत ऐसी अवस्था में उनका अकवर के दरवार में जाना युक्तियुक्त नहीं

जाना पडता। अत स्पष्ट है कि आइने-अकवरी का सूरदास कोई और ही सूरदास रहा होगा।

सूरसागर में आनेवाले—

सूर कूर आंधरो, मैं द्वार पर्‌यो गाऊँ ॥

ऐसे पदो से स्पष्ट है कि सूरदास नेत्र-विहीन थे। परन्तु यह निर्णय कर सकना कठिन है कि वह जन्मान्ध थे या वाद में अन्धे हुए। कई विद्वान् सूर के काव्य में उत्कृष्ट सौन्दर्य-वर्णन को देखकर इस वात पर विश्वास नहीं करते कि सूर जन्मान्ध थे। परन्तु ऐसे व्यक्तियो को यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि सूरदास एक आस्थावान् व्यक्ति थे। उन्होने सूरसागर के आरम्भ में ही कह दिया है—

जाकी कृपा पगु गिरि लघैं अन्धे को सब कछु दरसाई ॥

अत. इस उक्ति का यदि जीवन में स्वयं अनुभव किया हो तो आश्चर्य क्या? वैसे भी सूरदास के ही समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने सूरदास को जन्मान्ध कहा है।[1] इनके अतिरिक्त प्राणनाथ कवि ने भी इन्हें अपने निम्न दोहो में जन्मान्ध ही कहा है—

वाहर नैंन विहीन सो भीतर नैंन विसाल।
जिन्हें न जग कछु देखिवो लखि हरि रूप रसाल ॥

इतना ही नहीं अव तो विद्वानो ने सूर की ही कुछ ऐसी पंक्तियां खोज ली हैं जो उन्हें जन्मान्ध सिद्ध कर देती हैं—

करमहीन जनम को अधो मो तें कौन नकारो।

उपर्युक्त सभी प्रमाण उनका जन्मान्ध होना सिद्ध करते हैं।

सूरदास जी के जीवन की स्पष्ट रूपरेखा हमें तभी से मिलती है जव वे आगरा और मथुरा के समीप यमुना किनारे गऊघाट पर रहते थे। यहीं आचार्य जी से इनकी भेंट हुई और उन्होने सूर को दीक्षा दी।

१ जन्मान्धो सूरदासोऽभूत। (सस्कृत-मणिमाला)

तदुपरान्त सूरदासजी को गोवर्धन के नाथ-मन्दिर का कीर्तन-भार दिया गया। सूरदासजी मृत्यु-पर्यन्त यहीं रहे। अनुमानत १६२० आसपास[1] इनकी मृत्यु हुई।

सूरदास की तीन रचनाएँ—सूरसागर, साहित्यलहरी और सूरसा वली प्रसिद्ध हैं। सूर की कीर्ति का आधार-स्तम्भ सूरसागर ही आचार्य की यह आज्ञा पाकर 'कछु भगवल्लीला वर्णन करो' सू भगवान् की लीलाओ का जो गायन किया वही सूरसागर का मुख्य वि है। वैसे तो सूरसागर में उनके प्रार्थना-सम्बन्धी पद भी सगृहीत हैं और ने जैसा स्वय कहा है[2] कि उन्होंने इसे भागवत के अनुसार कहा परन्तु दोनो ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राय· स्पष्ट है कि भागवत के अनुसार तभी तक कहते हैं जब तक उन्हें अपने इष्ट श्याम मिल जाते—उनके मिलने पर वे भागवत को छोड अपने श्याम के में रँग जाते हैं। अत ऐसे अवसर पर वे हमें कभी कृष्ण के बालक्री वर्णन में तल्लीन दृष्टिगत होते हैं और कभी उनकी किशोर-क्रीडा अन्त में उन्होंने तुलसी के इस कथन को 'राम से राम का भक्त श्रेष्ठ चरितार्थ करते हुए श्याम को छोड दिया और भ्रमरगीत में वे गो के विरह में ही तल्लीन हो गये।

भावपक्ष—यह स्पष्ट है कि भावपक्ष की दृष्टि से सूर का क लीलाओं का काव्य है जैसाकि आचार्य द्विवेदीजी ने कहा है—"लीला· में भी उनका प्रिय विषय था—प्रेम, माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, ग गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम— बातों से ही सूरसागर भरा है।"

---

१ श्री मुशीराम ने अपने 'सूर-सौरभ' में सवत् १६२८ तक इ जीवित रहना स्वीकार किया है।

२ हिन्दी-साहित्य की भूमिका पृष्ठ ६६।

वस्तुत. कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही अपनी अभिव्यजना का विषय चुना है। कृष्ण के जीवन का केवल वही पक्ष इन भक्त कवियो ने अपनाया जिसके द्वारा प्रेम की अभिव्यजना हो, शेष लोकव्यवस्था का पक्ष नहीं। इन कृष्णभक्तो के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बडे-बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारिका के श्रीकृष्ण नहीं। अत. स्पष्ट हो विषयानुसार इनका क्षेत्र भी सीमित हो गया, परन्तु जैसाकि आचार्य शुक्ल ने कहा है—"जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने सचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा।"[1]

यद्यपि सूर का क्षेत्र वात्सल्य और शृङ्गार तक ही सीमित है परन्तु इन्हीं दो क्षेत्रो में जहां तक सूर का अधिकार है वहां तक और किसी का नहीं। इस विषय में सूर की कही गई और कवियों की उक्तियां झूठी प्रतीत होती हैं। सूर अपने इस सीमित क्षेत्र के एकच्छत्र सम्राट् हैं।

वाललीलाओं का वर्णन करते समय सूर स्वयं भी वालक ही हो जाते हैं इसीलिए आचार्य द्विवेदीजी ने सम्भवतः उन्हें हिन्दी-साहित्य की भूमिका में वय.प्राप्त वालक तक कह दिया है। वाल-सुलभ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओ का वर्णन हमें सूरसागर में मिल जाता है। पुत्र उत्पन्न होने पर माता की सवसे पहली इच्छा उसे पालना झुलाने की होती है। सूर ने इसी इच्छा को लेकर पालना झुलाती हुई यशोदा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया। यशोदा पालना झुलाने में तन्मय है और उसे देखकर सूर यह गाने में तन्मय हो जाते हैं—

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराई मल्हावै जोइ सोई कछु गावै॥

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० १६६।

यह वर्णन पढ़कर कोई भी व्यक्ति यह अनुमान नहीं लगा सकता कि लिखनेवाले ने मस्त यशोदा को केवल कल्पना की ही आँखों से देखा होगा—उसके लिए तो यह आनन्द-मग्न कर देनेवाली वास्तविकता ही है। परन्तु यह सब सूर की तन्मयता का ही प्रभाव है।

भगवान् कुछ बड़े हो गये हैं और आँगन में घुटनों चलते हैं। बालक को घुटनों चलते हुए कितनों ने देखा है और कितनों ने ही इस प्रकार से चलते हुए बालकों का वर्णन किया है परन्तु सूर के समान इस सूक्ष्मता पर पहुँच कर किसने गाया है!—

भीतर से बाहर लौं आवत।
घर आँगन अति चलन सुगम भयो देह देहरी में अटकावत।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने अपने जीवन-काल में इस प्रकार के छोटे-से-छोटे मनोरम प्रसगों के उद्भावन की ही साधना की थी और यही कारण है कि उन्हें ऐसी अद्भुत सफलता मिली। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ठीक कहा है—"सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसगों की उद्भावना। प्रसगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते।"

माता की यह अत्यन्त उत्कट इच्छा होती है कि मेरा पुत्र कब बड़ा हो और मुझे मैया-मैया कहकर पुकारा करे। सूर ने यशोदा माता की इस प्रकार की सभी इच्छाएँ अपने लीला-वर्णन में पूरी कीं। वे तात नन्द को 'बाबा' और माता को 'मैया' कहकर पुकार लेते हैं।

आगे यशोदा अपने पुत्र को चलना सिखाती है और सूर उन्हे चलते देखकर कहते हैं—

अरबराइ कर पानि गहावति डगमगाइ धरनि धरे पैयाँ।

इसके अतिरिक्त बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुन्दर पद भरे पड़े हैं। स्पर्द्धा का कैसा सुन्दर भाव इस पद में दृष्टिगत होता है—

मैंया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥

इसी प्रकार अन्य बालकों पर कुछ बस न चलने पर पुत्र अपनी माता पर ही रोब दिखाता है—यह प्रवृत्ति हमें इन पंक्तियों में लक्षित होती है—

खेलन अब मेरी जात बलैया।

प्रायः देखा जाता है कि बालक इस प्रकार की उक्तियाँ कहते समय अँगूठा दिखाया करते हैं। यहाँ 'बलैया' शब्द भी इसी प्रकार की कुछ ध्वनि देता है।

बालकों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का यह उदाहरण अत्यन्त सुन्दर है—

पीताम्बर लै सिर पै ओढ़त अंचल दै मुसकात।

श्याम ने किसी गोपिका को अवगुण्ठन धारण किये देख लिया होगा, तो इन्हें भी घूंघट की सूझी, और मुख पर अंचल कर लिया, परन्तु मुग्धा के भावों का तो उन्हें ज्ञान नहीं, अतः मुस्कराने लगे। इस प्रकार के न जाने कितने सुन्दर भावों से सूरसागर भरा पड़ा है। विस्तार-भय से हमें इतने में ही सन्तोष करना पड़ता है।

कलापक्ष—रस की दृष्टि से भी हमें वत्सल रस के परिपाक की पूर्ण सामग्री इस वर्णन में मिल जाती है। बालक कृष्ण आलम्बन, नन्द-यशोदा आश्रय और उनकी बाल-सुलभ चेष्टाएँ[1] ही उद्दीपन विभाव हैं। उन चेष्टाओं को देखकर मस्त होना, मुख चूमना, गोद लेना आदि अनुभाव और इनसे व्यंजित हर्षादि संचारी भाव हैं।

शृङ्गार के क्षेत्र में सूर ने सयोग और वियोग दोनो का ही तन्मयता

---

१. हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरणन सो नाचत, मनही मनहिं रिझावत।

से वर्णन किया है। इसी तन्मयता को देखकर ही आचार्य हजारीप्रस द्विवेदी ने कहा था—"सूरदास का प्रेम सयोग के समय सोलह आने सयो मय और वियोग के समय सोलह आने वियोगमय है, क्योंकि उनका हृ बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता और क्षणिक सम्मिलन में ही सब कुछ भूलकर किलकारियाँ मा लगता है।"

सयोग-वर्णन में कृष्ण और राधा का रूप-चित्रण अपने ढग निराला है। राधा वही है और कृष्ण वही है, परन्तु सूर उनका वार वार नवीन ढग से बखानते हैं और तो भी नहीं अघाते। पर प्रशसनीय बात यह है कि उस वर्णन को पढ़कर पाठक भी नहीं अघाता ाधा के मुख का यह वर्णन—

राधे तेरो वदन विराजत नीको।
जब तू इत उत बक विलोकति, होत निसापति फीको॥

करने के उपरान्त उन्हे सतोष नहीं होता और वह फिर उसे दूसरे ढग कहते हैं—

मोहन कर त्रिय मुख अलकें यह उपमा अधिकाई।
मनहु सुधा शशि राहु चोरावत धरचो ताहि हरि आई॥

इसी प्रकार सूरसागर मे हमें कृष्ण की मुखच्छवि के भी अने उदाहरण मिल जाते हैं।[१]

राधा-कृष्ण की रूपछवि-वर्णन के अतिरिक्त दोनो की पारस्परि शृङ्गारिक क्रीडाओं का भी विशद वर्णन हमें सूरसागर में मिलता है—

मुख मुख जोरि आलिंगन दीन्हो।
बार बार भुज भरि भरि लीन्हो॥

---

१ चदन खौरि ललाट श्याम के निरखत अति सुखदाई।
मानहु अर्धचन्द्रतर अहिनी सुधा चोरावन आई॥

परन्तु यह बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस प्रकार का शृङ्गारिक वर्णन लीलागान के लिए ही है; क्योंकि वल्लभाचार्य के अनुसार 'लीला का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि लीला स्वय ही प्रयोजन है।' सूरदास भी इस लीला को ही चरम साध्य मानते हैं। इसीलिए सूरदास का यह प्रेम-वर्णन बिल्कुल साफ और मार्जित है। न तो इस प्रेम में कोई पारिवारिक रसबोध है और न आमुष्मिक सम्बन्ध। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन सत्य है—"उनके प्रेम में चंडीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब-तले, हिंडोले पर, जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं वह अपने आपमें पूर्ण है . . ."

संयोग-वर्णन यद्यपि अपने आपमें पूर्ण है, तथापि वियोग-वर्णन अत्यधिक मर्मस्पर्शी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियो के लिए ससार ही सूना हो जाता है। प्रत्येक आनेवाली घड़ी, प्रत्येक स्थल उनके विरह को उद्दीप्त कर देते थे। प्रातःकाल आता तो उन्हे स्मरण होता कि कृष्ण इस समय वन की ओर जाते थे और सायंकाल आता तो कहतीं—

इहि बिरिया वन ते व्रज आवते।
दूरहि ते वह बेनु अधर धरि बारबार बजावते॥

इसी प्रकार गोपाल के बिना नित्य क्रीडा का स्थल-कुंजें भी उन्हें अपनी बैरिन प्रतीत होतीं। कृष्ण का उन्हे छोड़कर मथुरा चले जाने का और वहीं रम रहने का कार्य उन्हें कसाई का-सा प्रतीत होता। तभी वे कहतीं—

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाइ कपट कन पीछे करत बुरी॥

भ्रमरगीत—सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्य
अश भ्रमरगीत है, जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारि है। वस्तुतः 'भ्रमर-गीत-सार' विरह का उमडता हुआ समुद्र है। वि भावना की अभिव्यक्ति के साथ-साथ गोपियो ने जिस चतुराई से प्रे भावना-रहित ज्ञान का खडन किया है, वह अत्यन्त मनोहर बन पडा खडन के साथ-साथ "सूर ने सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक से, हृदय की अनुभूति के आधार पर किया है, तर्क पद्धति पर नहीं।"[1]

उद्धव के योग का उपदेश देने पर गोपियाँ हकबका-सी जाती हैं—

हम सौं कहत कौन सी बातें।
सुनि, उधो! हम समझति नाही, फिर बूझति हैं तातें॥

इस पर उद्धव और भी फूल जाते हैं और समझते हैं गोपियों मेरा प्रभाव पडने लगा, परन्तु शीघ्र ही इस भ्रम का निवारण जाता है। पर वे सचेत तभी होते हैं जब उन पर व्यग्य कसे जाते है गोपियाँ स्पष्ट कह देती हैं—"उद्धव! वस्तुत तुम मथुरा में कृष्ण का सि खाने लगे थे अत कृष्ण ने पीछा छुडाने के लिए तुम्हें यहाँ भेजा हैं। परन्तु वे इतने से ही हार नहीं मान लेते। वे अपने 'रेख न रूप' वा ब्रह्म-ज्ञान को ही सत्य समझे बैठे हैं। इस पर गोपियाँ उद्धव को बना शुरू करती हैं और पूछती हैं—

निर्गुण कौन देस को वासी?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दे बूझत साँच न हाँसी॥

इतने पर भी जब उद्धव सचेत नहीं हुए तब गोपियाँ पूछती हैं कि जब श्याम ने तुम्हें भेजा था तो क्या वे मुस्कराये तो नहीं थे—

१ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल पृ० १७३।
२ साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुम सौं मानी हारि।
याही तें तुम्हें नंद-नदन जू यहाँ पठाये टारि॥

सांच कहो तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने ।
सूर स्याम जब तुम्हें पठाये तब वे कछु मुस्काने ॥

'मुस्काना' कहकर गोपियो ने इस बात की व्यंजना कर दी कि तुम्हें मूर्ख बनाया गया है । इस प्रकार जब उद्धव का ज्ञान-गर्व खर्व हो जाता है तो गोपियां उसे सच्चे प्रेम-मार्ग का उपदेश देती हैं जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है ।

सूर ने केवल वत्सल और शृङ्गार रस तक ही अपने को सीमित रखा हो सो बात नहीं, उनकी पदावली में अन्य रसो की भी अच्छी अभिव्यंजना हुई है । उदाहरण के लिए रावण से युद्ध करते समय राम के क्रोध से उत्पन्न परिस्थिति का यह वर्णन—

क्षोभित सिंधु शेष सिर कंपित पवनगती भइ पंग ।
इन्द्र हंस्यो हर हँसि बिलखान्यो जानि बचन भयो भंग ॥

पाठक में क्रोध स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध कर लेता है । हाँ, इतना अवश्य है कि मुख्यता वत्सल और शृङ्गार की है । इन्हीं दो रसो में ही सूर जितने तन्मय दिखाई देते हैं उतने अन्य में नहीं ।

"सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञान-मार्गी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का भाव भी उन्होंने कभी किया नहीं ।"[1] तो उनकी विचार-धारा क्या थी—यह प्रश्न सहज ही उठता है परन्तु इसका समाधान कठिन नहीं है । मूलतः सूरदास श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे । यही कारण है कि उनकी कविता में हमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की भक्ति मिलती है परन्तु किसी भी मत के दार्शनिक विचारो का विवेचन नहीं । यद्यपि सूर ने भागवतकार का अनुसरण किया है परन्तु जहां कहीं भी विचार अथवा विवेचन का प्रसंग आया है वहां ही वे उसे बचा गये हैं और उस स्थल पर जहां उनके हृदय को रमने के लिए

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

पर्याप्त अवकाश मिला वहाँ का वर्णन उन्होने तन्मयता के साथ किया।

प्रपत्तिवाद—आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के कारण उन्हें प्रपत्ति मे पूर्ण विश्वास था। इसके अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय में जीव, ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में क्या कहा गया है—यह जानने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। उन्हें भगवान् के नाम में पूर्ण विश्वास है इसलिए वह सूरसागर के प्रत्येक स्कन्ध के आरम्भ में कह देते हैं—

हरि हरि सुमरण करो, हरि चरनारविन्द उर धरो।

इतना ही नहीं, उन्हे यह भी दृढ विश्वास है कि भगवान् का नाम स्मरण करने से जीव का उद्धार हो सकता है। वे स्पष्ट कहते हैं—

कलिजुग एक बडो उपकार,
जो हरि कहै सो उतरे पार।

इसके अतिरिक्त उनका जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम की प्राप्ति है। वे प्रेम की प्राप्ति द्वारा ही अपने जीवन की प्राप्ति समझते हैं। उनका समस्त काव्य ही प्रेम से ओतप्रोत है। और वे जब गोपियों के मुख से उद्धव पर कृपा करवाते हैं तो भी कहते हैं—

प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहि जैये,
प्रेम बँध्यो ससार प्रेम परमारथ पैये।

उनकी समस्त साधना प्रेम को लक्ष्य करके ही चलती है और इसकी प्राप्ति का सबसे प्रमुख साधन वे भगवान् की लीलाओं का गान समझते हैं। यही उनकी विचारधारा है। वे तुलसी के समान दार्शनिकता के विवेचक कभी नहीं हुए। उनके काव्य में से दार्शनिक विचारों को ढूँढ़ना हमें व्यर्थ की माथापच्ची प्रतीत होता है।

सूरदास के वर्णित विषय पर विचार हो चुका है। अब उनकी वर्णनशैली पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। सूर ने अपने इष्टदेव के गुणगान के लिए उसकी लीला-भूमि की भाषा—ब्रजभाषा को ही स्वीकार किया।

सूरसागर, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने भी कहा है, चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी अत्यन्त परिमार्जित और सुडौल रचना है। चलती हुई भाषा होने से सूर की भाषा में हमें प्रचलित मुहावरों-लोकोक्तियो का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। 'जहाज का पछी जहाज से उड़कर जहाज पर ही आ जाता है।' इस उक्ति का प्रयोग सूर ने अनेकों वार किया होगा। मुहावरो और लोकोक्तियो के अतिरिक्त सूर की भाषा में अन्य देशी-विदेशी भाषाओ के शब्द भी मिल जाते हैं। इनमें से पूर्वी हिन्दी, गुजराती और पंजाबी तथा अरबी-फारसी के शब्द मुख्य हैं।

संगीत—सूरदास कवि तो थे ही, परन्तु साथ ही उत्तम संगीतज्ञ भी थे। उनका सूरसागर अनेक राग-रागनियों से भरा पडा है। सूर को यह पद-परम्परा जयदेव-विद्यापति आदि से मिली थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार तो विद्यापति का प्रभाव भी सूर पर बहुत है। सारंग शब्द को लेकर लिखी गई यह रचना—

सारँगनयन, वयन पुनि सारँग, मारँग तसु ममधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग, केलि करथि मधुपाने॥

दोनो कवियों में समान रूप से उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार अन्य दृष्टकूटों पर भी विद्यापति का प्रभाव लक्षित होता है।

हाँ, तो सूरदास ने संगीतज्ञ होने के कारण पदो की इस गेय-परम्परा को ही स्वीकार किया। उन्होंने गेयता को ध्यान में रखकर ही अपनी शब्दावली भी सयोजित की हैं। एक तो ब्रजभाषा स्वय भी मधुर है परन्तु सूर ने लय-नाद और ध्वनि का ध्यान रखकर ही शब्दो का चयन किया है अतः यह सौन्दर्य और भी निखर उठा है। गोपियों के जाते हुए समूह का यह वर्णन—

मध्य ब्रजनागरी रूप रस आगरी घोप उज्जागरी श्याम प्यारी।
भुरीं ब्रजसुन्दरी दसन छवि कुदरी काम तनु दुदरी करनहारी॥

हमारे उक्त कथन की पुष्टि करता है। अत स्पष्ट है कि सूर की रचना में माधुर्य और प्रसाद गुण ही मुख्य हैं। विषय में मधुरता के कारण ही सूरसागर में वैदर्भी और पाचाली रीतियों का अधिकत प्रयोग है।

अलकार-विधान—सूरदास ने अपने वर्णन में अलकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। अलकारो की प्रचुरता का कारण भाषा और भावों का अलकरण ही है। अपने इष्ट की बालछवि-वर्णन में तल्लीन सूर उनके अगों के लिए न जाने कहाँ-कहाँ से अनुपम उपमान खोज लाते हैं। मणिमय आँगन में क्रीडा करते हुए कृष्ण पर की गई यह उत्प्रेक्षा—

फटिक भूमि पर कर पग छाया यह सोभा अति राजति।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल वैठ की साजति॥

अत्यन्त सुन्दर है। रूप या अगो के शोभा-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा की भरमार मिलेगी। कहीं-कहीं तो सूर उत्प्रेक्षा करते चले जाते हैं, परन्तु प्रशसनीय बात यह है कि भाव का सौन्दर्य कहीं नष्ट नहीं होने पाता।

सूर ने अर्थालकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। अर्थालकारों में भी सादृश्य-मूलक अलकार ही उनको अधिक प्रिय है। सूर के अलकारों की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि वे लक्षणा-व्यजना-शक्ति पर आधारित हैं। 'उपमा एक न नैन गही' कहकर नयनों के विभिन्न उपमानों को असगत ठहराने में यही शक्तियाँ कार्य करती हैं।

सूर ने शब्द-शक्तियों का प्रयोग अपने सारे काव्य में ही किया है परन्तु भ्रमरगीत तो लक्षणा, व्यजना आदि शक्तियों का भण्डार है। गोपियों के इस कथन में—

ऊधो धनि तुम्हरो व्यौहार।
धनि वै ठाकुर धनि वै सेवक, धनि तुम बरतनहार॥

लक्षणा स्पष्ट है। 'धनि' का वास्तविक अर्थ धन्य है परन्तु इस 'धनि' का 'धिक्' में सक्रमण हो जाने से कुछ और ही ध्वनि निकलती है।

कृष्ण के जीवन के जितने पक्षों को कृष्ण-भक्त कवियों ने अपनाया उसमें मुक्तक-काव्य-शैली के लिए ही स्थान है, प्रबन्ध-काव्य के लिए नहीं। अतः राधा-कृष्ण पर लिखे गये सभी सफल काव्य मुक्तक हैं। सूर ने भी इसीलिए गेय मुक्तक पदो की शैली का आश्रय लिया।

सूर के काव्य पर इतना विचार करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि सूर की सफलता का मुख्य कारण उनकी तन्मयता है। यह सच है कि तुलसी की कविता भी हमें अपनी ओर आकृष्ट करती है, परन्तु हमारे हृदय को आकृष्ट कर रमाने की शक्ति सूर की कविता में ही है। वस्तुतः सूर अपने में अर्थात् 'श्यामयुक्त सूर' के रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे, अतः ऐसी अवस्था में इनके पदो में तन्मयता का आ जाना स्वाभाविक है।

सूर की-सी तन्मयता मीरा में अवश्य है, परन्तु मरुस्थल की उस मजु मदाकिनी में गाम्भीर्य नहीं। किन्तु सूर सभी गुणों में समान हैं; इसलिए 'भक्तमाल' के रचयिता का सूर के विषय में यह कहना उचित ही है—

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर चालन करै।

सूर के कवित्व में क्या-क्या गुण हैं जिनसे हम झूम पड़ते है?—शुक्ल जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है, "बाल्यकाल और यौवनकाल कितने मनोहर हैं। उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियो के विशद चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृङ्गार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बद आँखो से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनो रसो के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओ का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।"

प्रेमभाव—"जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेमभाव की चरम सीमा आश्रय और आलवन की एकता है । अत भगवद्भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेमतत्त्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा, और उनके अनुयायी कृष्णभक्त कवि इसी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोकपक्ष पर भी थी, इसी से वे मर्यादापुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले, और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की और-और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरजन किया।"

सूर ने रतिभाव के तीनों मुख्य रूप—वात्सल्य रति, दाम्पत्य रति और भगवद्विषयक रति को ग्रहण किया। सूरसागर में प्राप्त विनय के पद भगवद्विषयक रति है, कृष्ण की बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम सम्बन्धी पद दाम्पत्य रतिभाव के अन्तर्गत हैं, "हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बडा भारी सागर भर कर तैयार किया है।"

यों तो सूर ने प्रेम के तीनों रूपों के वर्णन में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है किन्तु वात्सल्य और दाम्पत्य रतिभाव की अभिव्यक्ति में तो उनकी समानता कदाचित् ही कोई कवि कर सके। इसके अनेक कारण हैं—उनमें जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्राय उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढे-सीधे ढग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है!

साहित्य-प्रसिद्ध उपमानों को लेकर सूर ने बडी-बडी क्रीडाएं की हैं। कहीं उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा 'अद्भुत एक अनुपम बाग' लगाया है, कहीं, जब जैसा जो चाहा है, उन्हें सगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असगत।

उपासना-पद्धति—तुलसी और सूर की उपासना-पद्धति में अन्तर

है। तुलसी की उपासना सेव्य-सेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्य भाव से। प्रारम्भ में सूर ने जो विनय के पद निर्मित किये वे दैन्य प्रदर्शित करनेवाले हैं और सेवक और दास के रूप में वर्णित हैं। सूर की विनयावली और तुलसी की विनय-पत्रिका में सखा और सेवक का भाव समान पाया जाता है।

कई आलोचकों ने सूर को खरा एवं स्पष्टवादी, तुलसी को सिफारिशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला कहा है। इसका कारण यह बताते हैं कि तुलसी कभी राम की निन्दा नहीं करते; पर सूर ने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी है, यथा—

(१) 'सूरदास' प्रभु वे अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी ॥
(२) सूरदास सर्वस जो दीजै करो कताहि न मानै ॥

सूर उस दोष से बरी माने जाते हैं जो तुलसी पर बार-बार आरोप किया जाता है। कहा जाता है कि तुलसी बार-बार स्मरण दिलाते हैं कि राम परमेश्वर हैं।

तीसरा अन्तर है कि सूर कृष्ण-प्रेम में मग्न होकर वाह्य परिस्थितियों को सर्वथा भूल जाते हैं; उनकी आलोचना आवश्यक समझते हैं। लोक-प्रवृत्ति, समाज-प्रवृत्ति को वे महत्त्व नहीं देते, किन्तु तुलसी अधिक जागरूक थे। वे लोकमंगल को विस्मृत नहीं करना चाहते थे। वे लोकगति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होनेवाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखनेवाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दु:ख-दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टि-पात किया है उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है।

तुलसी को तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों पर सम्मान अधिकार था। सूर में यह विशेषता नहीं पाई जाती। सूरसागर की पद्धति पर तुलसी की 'गीतावली' बड़ी सरस और मनोहारिणी रचना बन गई है,

किन्तु रामचरितमानस और कवितावली की शैली की रचना सूरदास में नहीं पाई जाती।

मानव जीवन की जितनी विविध दशाओं का परिचय, जितनी अधिक वृत्तियों का ज्ञान तुलसी की रचनाओं में उपलब्ध होता है उतना सूर में कहां! चरित्रचित्रण में तुलसी की शक्ति अप्रतिम है, सूर इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते।

"तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एक-मुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड लगाई है उतनी दूर की तुलसी ने भी नहीं, और किसी कवि की तो वात ही क्या है! जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।"

साम्प्रदायिकता की दृष्टि से देखने पर सूर में तुलसी की अपेक्षा अधिक सकीर्णता है। तुलसी ग्रन्थारम्भ करते समय परम्परानुसार गणेश या सरस्वती की वन्दना करते हैं किन्तु सूर का चित्त कृष्ण को छोड कर कहीं अन्यत्र जाता ही नहीं। तुलसी ने समन्वयात्मक दृष्टि से राम-जीवन को देखा, शिव और राम को एक-दूसरे का उपासक बनाया, पर सूर को इन वातो से जैसे कोई सरोकार न था।

हां, सूर का उद्धव-प्रसग अद्वितीय सिद्ध होता है। इसमें "वचन की भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेमप्रसूत न जाने कितनी अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है।" उद्धव गोपियों की प्रीति की गूढता और तन्मयता देखकर जो शिक्षा पाते हैं उससे सगुण भक्तिमार्ग की सरसता और सुगमता के सम्मुख ज्ञान का दर्प दूर हो जाता है।

भगवान् के अव्यक्त रूप की अपेक्षा उनका व्यक्त रूप अधिक मनो-हारी बन जाता है और गीता के अनुसार—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

भगवान् के अव्यक्त रूप की उपासना कितनी जटिल और अगम्य है और व्यक्त रूप की उपासना कितनी सुगम और बोधगम्य है, इसका सजीव चित्रण भ्रमरगीत में मिलता है। सूर का सूरत्व सबसे अधिक यहीं झलकता है। प्रेम-भक्ति का सबसे अधिक निरखा रूप यहाँ दिखाई पड़ता हैं।

भ्रमरगीत में कहीं-कही गोपियो की अन्तर्वेदना जब झल्लाहट का रूप धारण कर लेती है तो सूर उसको ग्राम्य नारी की स्वाभाविक बोली में इस प्रकार प्रकट करते हैं कि मन मुग्ध हो जाता है—

सँदेशनि मधुवन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं गवन करे।
कै वै श्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नँदनदन हमरेउ फेरि धरे।
मसि खूँटी, कागर जल भीजे, शर दव लागि जरे॥

पथिक सन्देश लेकर गये पर लौटे ही नहीं, न जाने कहाँ मर गये! कोई चिट्ठी भी नहीं आती! कारण? क्या मथुरा की स्याही समाप्त हो गई, या कागज ही नहीं रहे या भीगकर गल गये या जिन सरकडो से कलम बनती हैं उनमें आग लग गई और वे जल गये!

दीर्घकाल तक ज्ञानमार्ग का तिरस्कार करते-करते गोपियाँ सोचने लगती हैं कि कहीं ऊधो बाबा रुष्ट न हो जायें। वे निवेदन करती हैं कि ज्ञानमार्ग को हम बुरा नहीं कहती हैं, वह तो अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग हैं; पर अपनी-अपनी रुचि है। "दाख छोहाडा छाँडि अमृत फल, विष-कीडा विष खात।" हमारी रुचि उस ज्ञानमार्ग की ओर जाती ही नहीं जिसको आप इतनी महिमा गा रहे हैं।

इतने ही में कोकिल की कूज सुनाई पड़ती है गोपियाँ कहती हैं—हे महात्मा जी, आप प्रकृति की पुकार तो सुनें—

ऊधो! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन॥

गोस्वामी तुलसीदास

परिचय

गोस्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर कई कारणों से सदेह किया जाता है। बाबा बेनीमाधवदास-कृत 'गोसाईं-चरित' में जो कुछ तुलसी के बारे में लिखा हुआ मिलता है उसकी प्रामाणिकता पर इतिहासकारों और साहित्यिकों—दोनों—को सन्तोष नहीं है। इसमें वर्णित बहुत-सी बातों को माताप्रसाद गुप्त अपने लेखों में इतिहास-विरुद्ध सिद्ध कर चुके हैं। 'गोसाईं-चरित' के अनुसार तुलसीदास के गुरु का नाम नरहर्यानन्द और नरहर्यानन्द के गुरु का नाम अनन्तानन्द है। परन्तु वास्तव में अनन्तानन्द और नरहर्यानन्द दोनों ही रामानन्द के बारह शिष्यों में गिने जाते है। इसके अतिरिक्त इसमें आई हुई 'सत्य शिव सुन्दर' की पदावली स्पष्ट ही उनकी आधुनिकता की ओर सकेत कर रही है।[1]

गोस्वामीजी के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में महात्मा रघुवरदासजी का लिखा 'तुलसी-चरित' प्राप्त है। परन्तु इन दोनों ही ग्रथों की घटनाएँ परस्पर इतनी विरोधी है कि दोनों में से किसको प्रामाणिक माना जाय, यह निर्णय कर सकना अत्यत कठिन है।

दोनो चरितों में गोस्वामीजी का जन्म-सवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी

---

१ देखिन तिरपित दृष्टि ते सब जने, कीन्ही सही सकरम्।
दिव्यापर सो लिख्यो, पढै धुनि सुने, सत्य, शिव, सुन्दरम्॥

हुई है। 'शिवसिंह-सरोज' के रचयिता ने इनका जन्म स० १५८३ के लगभग माना है। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी प० रामगुलाम द्विवेदी भक्तो की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म स० १५८९ मानते थे। इसी अन्तिम सवत् को डा० ग्रियर्सन आदि विद्वानो ने स्वीकार किया है।

गोस्वामीजी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी प्रसिद्ध है। माता के नाम के प्रमाण में रहीम का यह दोहा कहा जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

गोस्वामीजी के जन्म-स्थान का प्रश्न जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही विवादास्पद भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में इस विवाद को उठाया है और अन्त.साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास का जन्म-स्थान राजापुर सिद्ध किया है। इसके विरोध में कुछ विद्वान् 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' सम्मुख रखते हुए उनका जन्म-स्थान एटा जिले का सोरो नामक स्थान बताते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने 'हिन्दी-साहित्य' में कुछ-कुछ इसी मत का समर्थन किया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'सूकर छेत्र' गोंडे जिले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहाँ आसपास के कई जिलो के लोग स्नान करने जाते है और मेला लगता है। भाषा को परखने के उपरान्त भी आचार्य शुक्ल इसी निर्णय पर पहुँचे है।

एक अन्य तर्क, जो शुक्लजी ने अपने पक्ष के समर्थन में दिया है, वह है कि भक्तो में यह परम्परा है कि वे अपने को अपने इष्टदेव तक पहुँचाने का समय देखा करते हैं। रामचरितमानस की ये पंक्तियाँ—

तेहि अवसर इक तापस आवा। तेजपुंज लघु वयस सुहावा।
कवि अलखित-गति वेष विरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी॥

सजल नयन तन पुलक निज इष्टदेव पहिचानि ।
परेउ दड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ।।

भी उनके विचारानुसार उसी ओर सकेत करती हुई प्रतीत होती हैं ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सोरों (जिला एटा) के पक्ष में बाह्य साक्ष्य का ही अधिक आश्रय लिया है । उनके अनुसार दोहावली के कुछ दोहो से भी इस तथ्य का कुछ समर्थन हो जाता है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन के लिए तुलसीदास के भाई नन्ददास और उनके पुत्र कृष्णदास की लिखित सामग्री का अधिक आश्रय लिया है। कृष्णदास अपनी पुस्तकों के प्रारम्भ में अपने चाचा तुलसी और चाची रत्नावली का नाम बडे आदर से लेते हैं । इतना ही नहीं, उनके अनुसार आज रत्नावली के ऐसे दोहे भी उपलब्ध हो गये हैं जिनमें देवर नन्द की चर्चा नहीं छूटने पाई है ।

इतने तर्क देने के उपरान्त आचार्य द्विवेदी ने अपना निर्णय इस प्रकार दिया है—"सोरों के प्रामाणिक या अप्रामाणिक होने के पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है । जहाँ तक पुस्तकों से पढकर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि सोरों के पक्ष में दिये जाने वाले प्रमाण बहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी वजनदार हैं । उनको यों ही टाला नहीं जा सकता ।"[1]

तुलसीदासजी ने कवितावली में लिखा है, "मातु पिता जग जाहि तज्यो, विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई ।" इसी प्रकार विनयपत्रिका में भी ये वाक्य हैं, "जनक जननी तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे" आदि । इन वचनों से ऐसी जनश्रुति चल पडी कि गोस्वामीजी को अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। इनका पालन-पोषण इनकी माता द्वारा नियुक्त एक दासी

१ हिन्दी-साहित्य, पृष्ठ २३१–३२

ने किया परन्तु उसके भी सिधार जाने पर ये अनाथ हो गये और फिर कुछ दिन उपरान्त बाबा नरहरिदास ने इन्हें अपने पास रख लिया। उन्हीं के साथ ये काशी आये, जहाँ इन्हे एक विद्वान् ने वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। प्रायः १६–१७ वर्ष की आयु में इनका विवाह हो गया, तथा वैवाहिक जीवन में ही अपनी पत्नी के मुख से यह सुनकर—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

उनकी श्रीराम के चरणों में अनुरक्ति हो गई और वे विरक्त होकर घर से चले गये।

तुलसीदास जी की निम्न बारह रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें ५ बड़ी हैं और अन्य ७ छोटी। दोहावली, कवित्त-रामायण, गीतावली, रामचरित-मानस, विनयपत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामललानहछू, पार्वती-मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य-संदीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा-प्रश्नावली छोटे। इनमें से रामचरितमानस तुलसीदास की अपार कीर्ति और यश का आधार-स्तम्भ है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसीदासजी की सफलता का मुख्य कारण उनकी समन्वय-भावना को ही माना है। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरो में रह चुके थे। ब्राह्मण-वंश में उनका जन्म हुआ था, दरिद्र होने के कारण दर-दर भटकना पड़ा था। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्होंने काशी के दिग्गज पंडितों का संसर्ग और सत्संग किया, वहाँ वे अशिक्षित और संस्कृति-विहीन जनता में भी रह चुके थे।

तुलसीदास की रचनाओं में कई प्रकार के समन्वय लक्षित होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ही शब्दों में—"उनका सारा काव्य समन्वय

की विराट् चेष्टा है। लोक-शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय—रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।" इसके अतिरिक्त शैव-वैष्णवों का, व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म (पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों) का तथा कर्म, ज्ञान और उपासना—इन तीनों का सामंजस्य हमें अन्य किसी काव्य में कम ही उपलब्ध होता है।

समकालीन साधना-पद्धतियाँ—वस्तुत जिस समय तुलसीदास का आविर्भाव हुआ उस समय साधना के कई मार्ग प्रचलित थे। एक ओर कबीर का ज्ञानमार्ग था, जिसमें कर्म की बिल्कुल अवहेलना की जाती थी। कर्म का विरोधी यह मार्ग लोकधर्म का भी विरोधी था। इनकी साधना में जितनी अलख जगाने की आवश्यकता थी उतनी सामाजिक अथवा पारिवारिक कर्त्तव्यो को निभाने की नहीं। ऐसी अवस्था में समाज का मर्यादाभ्रष्ट हो जाना, और विशृङ्खल हो जाना अधिक सम्भव है। अत गोस्वामीजी ने उचित समय पर इसे परखा और व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म पर भी पर्याप्त बल दिया।

इसके अतिरिक्त कृष्णभक्तों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग में भी सामाजिक मर्यादा का उतना ध्यान नहीं है। शृङ्गार का अमर्यादित वर्णन पुनीत आचरण वाले भक्तो के लिए लाभकर हो सकता है, परन्तु साधारण जनता तक उसको पुनीतता नहीं पहुँच सकती।

"तात्पर्य यह कि उस समय नये-नये सम्प्रदायो की खींचतान के कारण आर्य-धर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकागदर्शिता बढ़ रही थी। • शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू-तू मैं-मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानो से अविरोध प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ जनता को साथ लगानेवाले कई नये-नये पथ निकल

चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था; परलोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है।"

ऐसे विकट समय में जन्म लेकर तुलसीदासजी ने "वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्रप्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुन सामंजस्य स्थापित करके आर्यधर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया।"

"तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त थे—(१) वेदशास्त्र के पण्डित तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायो की परम्परा में परि-पालित रामकृष्ण के उपासक, (२) जनता को आकर्षित करने के लिए समाज-व्यवस्था के निन्दक और सम्मानित व्यक्तियों का उपहास करने वाले प्रायः अर्धशिक्षित। सूरदास आदि अष्टछाप के महात्मा कवियो ने भगवान् श्रीकृष्ण के शृङ्गारिक रूप का प्रत्यक्षीकरण कराया। इस प्रकार निर्गुण संतों द्वारा उत्पन्न नीरसता और म्लानता तो दूर हो चुकी थी, किन्तु भगवान् के लोकसंग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं हुआ।" यह कार्य मानो तुलसी को ही विधाता ने सौंपा था और तुलसी ने इसे प्रत्यक्ष कर दिखाया।

उन्होने भक्ति के साथ शीलसाधना को जोडकर धर्म का नया स्वरूप खड़ा किया। उन्होने वर्णव्यवस्था, धर्मव्यवस्था, समाजव्यवस्था का सामञ्जस्य किया।

व्यक्तिगत साधना में तुलसीदास किस मार्ग के अवलम्बी थे, यह निश्चित रूप से कह सकना अत्यन्त कठिन है। कुछ विद्वान् उनकी 'यन्माया-वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवाः सुराः' आदि पंक्तियों के आधार पर उन्हे अद्वैतवादी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं तो अन्य उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी

सिद्ध करने के लिए निम्न पक्तियां सम्मुख रखते हैं—

ईश्वर अश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

इस प्रकार किसी एक निर्णय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। तुलसी के काव्य में दोनो पक्षों—अद्वैत और भक्ति—का समर्थन देखकर ही आचार्य शुक्ल ने निर्णय दिया था—"इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ-दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामीजी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धात के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।"

आध्यात्मिक विचार—गोस्वामीजी के आध्यात्मिक विचार क्या थे—अब इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। अन्य विचारकों की भाँति तुलसी भी जीवन का लक्ष्य सासारिक दु.खों से छूटकर परम शाति लाभ करना ही मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

बडे भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रथिन्ह गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

अब विचारणीय प्रश्न दो हैं—दु खों का कारण और उनसे छूटने का उपाय। दु खो का कारण गोस्वामी जी के विचार से—नाना प्रकार के स्वार्थपूर्ण कर्मों का करना है—

करहिं मोहवस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥

मनुष्य ससार में सुख चाहता है और उसके लिए ही वह अशुभ कर्म करता है। वह यह नहीं जानता—

अनविचार रमणीय सदा ससार भयकर भारी।

अत स्पष्ट है कि मनुष्य के दु ख का मूल कारण विचारहीनता है। वह प्रत्येक कार्य में सुखबुद्धि रखता है परन्तु सासारिक भोगो में सुख की भ्रान्ति हो जाने के कारण वह वास्तविक सुख के लिए कभी प्रयत्न

नहीं करता । यह भ्रान्ति उसे माया के कारण हो रही है जो उसे अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने नहीं देती ; क्योंकि वस्तुतः जीव ईश्वर का अंश है परन्तु माया की ग्रन्थि पड़ जाने पर—

तब तें जीव भएउ संसारी । छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥

इस मायाजनित क्लेश से छुड़ाने की सामर्थ्य उसी प्रभु में है जो उसको प्रेरित करता है । गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है—

हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु, जोइ बांध्यो सोइ छोरै ॥

अत भगवान् की ही शरण जाना संसार से छूटने का एकमात्र उपाय है ।

भगवान् को आराधने के मुख्यतया दो मार्ग प्रचलित हैं—ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग । तुलसीदास ने दोनों को समान मानते हुए भी भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है परंतु ऐसा करने पर भी वे 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस सिद्धांत को भुला नहीं पाये हैं । अत उन्होंने ज्ञान के मूल रूप विचार एव विवेक को लिया है । उन्होंने जहां भक्ति की परिभाषा की है वहां स्पष्ट ही कहा है—

श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संजुत विरति विवेक ।
तेहि परिहरहिं विमोह बस······ · ······ ·

वस्तुत. ज्ञान क्या है—उचितानुचित का विचार ही तो है और ज्ञान के लिए आवश्यक है वैराग्य, जो विना विमल वुद्धि के कभी प्राप्त नहीं होता । गीता में स्पष्ट कहा गया है—

यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

और यह ज्ञान विमल बुद्धि-विवेक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

इसीलिए गोस्वामीजी ने जहाँ विवेक को साथ रखा वहाँ विरति को भी अपनी भक्ति में स्वीकार किया। इस प्रकार गोस्वामीजी ने भक्ति को किन्हीं कारणों से श्रेष्ठ मानते हुए भी उसमें ज्ञान का सहयोग स्वीकार किया, क्योंकि लक्ष्य दोनों का एक ही है। जिस प्रकार भक्त भगवान् का चरित तन्मय होकर सुनता है उसी प्रकार—

जीवनमुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।

इतना ही नहीं, तुलसी ने भी गीताकार के समान भगवान् के चार प्रकार के भक्तों—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—में से ज्ञानी को ही श्रेष्ठ बताया है—

ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पिआरा।

अब विचारणीय यह है कि तुलसी की भक्ति का स्वरूप क्या था? भक्ति प्राय दो प्रकार की मानी गई है—वैधी और रागात्मिका। शास्त्रीय विधानों के अनुसार चलनेवाली भक्ति—वैधी और राग अर्थात् प्रेम को ही सर्वस्व माननेवाली भक्ति—रागात्मिका होती है। जैसा कि गोस्वामी के 'श्रुति सम्मत' शब्द से स्पष्ट है, गोस्वामीजी की भक्ति 'वैधी' ही है। रागात्मिका भक्ति में व्यष्टि के कल्याण की ओर जितना ध्यान रहता है उतना समष्टि के कल्याण की ओर नहीं। यही कारण है कि सूर ने अपने तम्बूरे पर गाते हुए कभी भी इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि मेरे इस गान में समाज की भी कुछ लगन है। परन्तु तुलसीदास तो लोकनायक थे अत. समाज-सुधार तो उनका आवश्यक कर्तव्य ही हो गया था। इसलिए उनकी भक्ति में साधुमत और लोकमत का समन्वय है।

भक्ति सख्य, वात्सल्य, दास्य आदि विभिन्न प्रकारों की मानी गई है। गोस्वामीजी मर्यादा-जीव थे अत उन्होंने दास्य-भक्ति को ही स्वीकार किया है। उनका 'सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि' वाली पक्ति बहुत प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं एक स्थान पर तो उन्होंने

भक्त को सचराचर सेवक कह दिया है—

सो अनन्य जाके असि मति टरइ हनुमत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत ।।

इस संसृति के क्लेशों से छुटकारा दिलानेवाली भक्ति को प्राप्त करने के विभिन्न साधनो का उल्लेख विस्तार से गोस्वामीजी ने किया है। भगवान् की भक्ति, उनके विचार से, एक मणि के सदृश है जिसके प्रकाश में अज्ञानांधकार तुरत नष्ट हो जाता है और इसे नष्ट करने के लिए माया का प्रबल परिवार भी समर्थ नहीं है, परंतु सर्वसुलभ होने पर भी इस मणि को प्राप्त कर सकना सब के लिए सहज नहीं है। उसके लिए राम की कृपा की अत्यन्त आवश्यकता है—

सो मणि जदपि प्रकट जग अहई। राम-कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ।।

भगवान् की इस कृपा को प्राप्त करने के लिए 'मन-वच-करम' से भगवान् का भजन आवश्यक है। यह भजन तभी सम्भव हो सकता है जब हमें भगवान् से प्रेम हो और प्रेम ही भगवान् को प्रसन्न करने का कारण है क्योंकि—

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा ।।

इस राम-प्रेम का प्रादुर्भाव सबसे अधिक राम-कथा-श्रवण से होता है। जहाँ कहीं भी नवधा भक्ति की चर्चा की गई है वहीं श्रवण-भक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि किसी के दर्शन कर लेने मात्र से ही हम उससे प्रेम नहीं करने लग पड़ते वरन् उसके गुण-श्रवण करने पर ही हम में वास्तविक प्रेम प्रादुर्भूत होता है। यह राम-कथा संत-समाज से ही प्राप्त होती है अतः सन्तों का सत्संग भी भगवान् के चरणो मे अनुराग दृढ करने के लिए आवश्यक है इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा है—

बिनु सतसग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ अनुराग ।।

अत गोस्वामी जी ने सत को बहुत श्रेष्ठ माना है और कहीं-कहीं तो 'राम से अधिक रामकर दासा' कह कर उन्हें राम से भी ऊपर उठा दिया है।

भक्ति का अन्य साधन नाम-जप है। तुलसी ने रामचरितमानस में ही नहीं प्राय अपने सभी ग्रन्थों में नाम की महिमा गाई है। भगवान् तो अव्यक्त हैं परन्तु नाम उन्हें भी व्यक्त करने में समर्थ है अत उनकी दृष्टि में 'ब्रह्मराम ते लाभ बड' है। सभवत इसीलिए उन्होंने कहा है—

प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूतिहौं।

भगवान् के नाम-जप का प्रभाव तभी सम्भव है जब हम उसे श्रद्धा और विश्वास के साथ जपें क्योंकि श्रद्धा और विश्वास के बिना भगवान् की भक्ति कभी सम्भव नहीं। श्रद्धा के लिए मानसिक निश्छलता अत्यन्त आवश्यक है—

निर्मल मन जन सो मोंहि पावा। मोंहि कपट छल-छिद्र न भावा॥

इन साधनों से समन्वित भक्तियुक्त पुरुष को भव-बन्धन व्यापते ही नहीं, अत उनसे वह स्वय ही छूट जाता है।

तुलसी और समाज-मगल—व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त गोस्वामीजी ने पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों की ओर भी ध्यान दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में "जिस समाज से ज्ञानसपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानो, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिपरायण सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुत्रों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासको आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता।"[1] इसी सामाजिक मर्यादा को सम्मुख

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्ल, पृष्ठ १६८

रखने के लिए तुलसी ने राम का चरित चुना और उसी के द्वारा समाज के सम्मुख इसके आदर्श रखे। इसी का परिणाम है कि जो आज कुछ नहीं जानता, वह भी इतना अवश्य जानता है—

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी।

यह रामचरितमानस का ही प्रभाव है कि आज अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो 'अलख' जगानेवाले साधुओ की भीड़ हमें दृष्टिगत नहीं होती। सन्यास इतना आसान नहीं कि 'नारि मुई गृह सपति नासी' और आप 'मंड मुंडाइ भए संन्यासी'। इसके लिए संसार की सभी वस्तुओं से वैराग्य होना परमावश्यक है और यह वैराग्य भी मन से हो, काया से न हो। क्योंकि—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

अतः केवल 'अलख-अलख' पुकारने से ही काम नहीं चल सकता। हम अपने साथ जगत् का जो सम्बन्ध अनुभव करते हैं उसी के मूल मे भगवान् की सत्ता हमें देखनी चाहिए, क्योंकि जगत् से हमारे जितने सम्बन्ध हैं सब राम के सम्बन्ध से हैं—

नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

दार्शनिक विचारो की दृष्टि से ही नहीं, तुलसीदास काव्य की दृष्टि से भी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवियो में से हैं। ऐसे कवि आपको प्राय. कम ही मिलेंगे जिनके काव्य में मानव-जीवन के सभी पक्षो का समावेश हो गया हो। अन्य कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं। जैसे वीर-गाथाकाल के कवि उत्साह को, भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, अलंकार के कवि दाम्पत्य प्रणय या शृङ्गार को ; परन्तु इनकी रचना में जीवन के सभी मुख्य भाव समाविष्ट हो जाते हैं। जहाँ एक ओर हम सुनते हैं—

कबहूँ ससि माँगत आरि करै, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरै।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मन मोद भरै॥

तो दूसरी ओर प्रेम की इस प्रकार पराकाष्ठा है—

बावरी जो पै कलंक लग्यो, तौ निसंक ह्वै काहे न अंक लगावती॥

इसी प्रकार जहाँ एक ओर इस प्रकार का आवेगपूर्ण भय है—

"लागि, लागि आगि" भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारही।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढे "बारि बारि" बार बारही॥

तो दूसरी ओर इस प्रकार की पिशाचिनियों और डाकिनियों की बीभत्स क्रीडा है—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनी की सेली बाँधे,
मूंड के कमंडलु, खपर किए कोरि कै।
• •
सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि के॥

इसी प्रकार अन्य रस भी अपने भाव, अनुभाव और संचारियों द्वारा पुष्ट होकर हमारे सम्मुख आते हैं। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन की जितनी भी दशाएँ हो सकती हैं उन सभी का समावेश हमें तुलसी की रचनाओं में मिल जाता है। तुलसी मनोविकारों के अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञाता थे। आज के इस मनोवैज्ञानिक युग में भी उन-जैसा मनोविकारों को समझनेवाला कवि दृष्टि में नहीं आता।

प्रबन्धात्मकता—आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रबन्धकार की सबसे बडी कसौटी मार्मिक स्थलों की पहचान है। तुलसी इस कसौटी पर

बिल्कुल खरे उतरते हैं। राम-वनवास, दशरथ-मरण, राम-भरत-मिलाप आदि ऐसे ही प्रसंग हैं जिनको पढकर पाठक गलदश्रु हो जाता है।

तुलसीदास ने जहाँ प्रबन्ध-काव्य की रचना की है वहाँ मुक्तक की भी। यदि रामचरितमानस प्रबन्ध-काव्य का एक उत्तम उदाहरण है तो दूसरी ओर कवितावली मुक्तक का और विनयपत्रिका गीतिकाव्य का।

तुलसीदास ने जहाँ अपने विचार-पक्ष में समन्वय किया है वहाँ कला-पक्ष में भी। इनके युग में दो प्रकार की भावनाओ का प्रचलन था। एक थी पूरबी भाषा—अवधी, और दूसरी पश्चिमी भाषा—ब्रज। अवधी में जायसी आदि प्रेम-कहानी लिखने वालो की रचनाएँ विद्यमान थीं और पश्चिमी में कृष्ण-भक्त कवियों के पद प्रसिद्ध हो चले थे। तुलसी का दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार था। जहाँ उन्होंने अवधी में रामचरितमानस की रचना की वहाँ व्रज में विनयपत्रिका आदि की रचना की।

शैली—केवल भाषा ही नहीं तुलसी ने अपने समय में प्रचलित अथवा पूर्व की सभी काव्य-शैलियो में रचना की। उनके युग में ये शैलियाँ मुख्य रूप से प्रचलित थीं—(क) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, (ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंश-काल से चली आती थी और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति। इन सभी शैलियो पर तुलसी का पूर्ण अधिकार था।

भाषा—तुलसी की भाषा में एक और प्रकार का समन्वय भी लक्षित होता है और वह समन्वय है—संस्कृत और भाषा का। तुलसी ने बड़ी चतुरता से संस्कृत को भाषा के साथ मिलाने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा प्रसङ्गानुकूल कठोर और मृदु होती है।

शृङ्गार रस में 'ककन-किंकिनी' वाली भाषा ही सुनाई देगी और वीर रस में 'दबकि दबोरे एक' वाली। इतना ही नहीं, तुलसी की भाषा पात्रों के अनुसार भी संस्कृत और ठेठ हो जाती है। सीता की यह उक्ति—

सुनहु विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥

संस्कृत-गर्भित है, परन्तु दूसरी स्त्री-पात्र मथरा की भाषा बिल्कुल ठेठ है—

हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँडि अब होब कि रानी॥

इसके अतिरिक्त तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है। 'पाँव पसार कर सोना' इस मुहावरे का यहाँ अच्छा प्रयोग है—

प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।

इसी प्रकार—

माँगि कै खैबो मसीद को सोइबो
लैबे को एक न दैबे के दोउ।

में लोकोक्ति के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण मिलता है। तुलसी की भाषा सर्वत्र कसी हुई और मात्रा तथा लिंगभेद के अनुरूप है।

अलंकार-विधान—तुलसी का अलंकार-विधान भी अत्युत्तम है। अलंकारों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया गया है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि जबरदस्ती अलंकारों को ठूँसने की चेष्टा की गई है। राम की इस उक्ति में—

सीता हरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आइ॥

पर्यायोक्ति अलंकार स्पष्ट है।

गोस्वामीजी ने अलंकारों का प्रयोग निम्न रूपों में किया है—

१ भावों की उत्कर्ष व्यंजना के लिए—

जासु वियोग विकल पसु ऐसे । कहहु मातु-पितु जीवहिं कैसे ।।

२. रूप (सौन्दर्य भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने के लिए—

सोनित-छीट-छटान जटे तुलसी छिति सोहैं महाछवि छूटी ।
मानो मरक्कत-सैल बिसाल में फैलि चली वर वीरवहूटी ।।

३ क्रिया का अनुभव तीव्र करने के लिए—

मारुतनंदन मारुत को, मन को खगराज को वेग लजायो ।।

४. गुण का अनुभव तीव्र करने के लिए—

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पै कहइ न जाना ।
निज-परिताप द्रवै नवनीता । पर-दुख द्रवै सुसंत पुनीता ।।

अलंकारों के साथ-ही-साथ तुलसी की रचना में लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का अच्छा प्रयोग मिलता है । दुःख की तीव्रता दिखाने के लिए लक्षणा के आधार पर दुःख का भी मानवीकरण निम्न पंक्ति में कर दिया गया है—

सुनि विलाप दुखहू दुख लागा । धीरजहू कर धीरज भागा ।।

इसके अतिरिक्त तुलसी की कला की विशेषताएँ—स्वाभाविकता, सरलता, प्रयोगों में वर्णमैत्री और कोमल कल्पना का एक-साथ संयोग, प्रभावोत्पादकता आदि हैं । रचना को सरल बनाने के विषय में तुलसी ने स्वयं कहा है—

सरल कवित कीरति बिमल जेहि आदरहिं सुजान ।
सहज बैर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान ।।

अतः इस आदर्श का प्रयोग यदि उन्होंने अपनी शब्दावली में किया

हो तो कोई आश्चर्य नहीं। कवितावली की निम्न पंक्ति में—

वरदन्त की पंगति कुन्दकली अधराधर पल्लव खोलन की।

शब्दमैत्री, वर्णमैत्री और संगीतात्मकता का एक-साथ सुन्दर प्रयोग किया गया है।

इतना सब कुछ विवेचन करने के उपरान्त हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास हिन्दी के प्रमुख कवि हैं। भाषा पर, शैली पर और अपने विषय पर उनका जैसा अधिकार था, वैसा कम ही कवियों का होता है। यही कारण है कि द्विवेदीजी के शब्दों में वे कवि, भक्त, पण्डित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य-स्रष्टा एक ही साथ हो सके।

लोकनायक—तुलसी के लोकनायक रूप का वास्तविक प्रदर्शन हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने २६ जुलाई १९५५ को तुलसी-जयन्ती के अवसर पर किया। वह इस प्रकार है—"तुलसी युग-प्रवर्तक महाकवि और भक्त थे। कविता के क्षेत्र में उनकी असाधारण प्रतिभा और छन्द-सौष्ठव ने जनसाधारण की भाषा का स्तर ऊँचा कर उसे एक विशेष महत्त्व प्रदान किया। उनके भक्तिभाव ने और भगवान् राम के प्रति उनकी अनुपम श्रद्धा ने भारतीय समाज को ऐसे समय जागरित किया जबकि अधिकांश लोग अकर्मण्य और निराशावादी होते जा रहे थे। अपने भक्ति-भाव से उन्होंने उत्तर भारत के समस्त वातावरण को सुरभित और राममय बना दिया। रामचरितमानस ने करोड़ों व्यक्तियों के दिलों में भक्ति के पौधे को फिर से रोपा और तज्जन्य आस्था द्वारा समाज की विचार-धारा तथा आचार-व्यवहार और विश्वास में ऐसा मौलिक परिवर्तन हुआ कि हम उसे यदि समाज का कायाकल्प कहें तो अतिरंजन न होगा।

"यही कारण है कि साहित्य में ही नहीं, इतिहास में भी मानव-समाज में कवियों को इतना ऊँचा स्थान दिया गया है। विचारक होने के साथ-साथ कवि लोग अत्यधिक प्रभावशाली और प्रतापी होते हैं; क्योंकि कवित्व की

शक्ति उन्हें ऐसी क्षमता प्रदान करती है कि जनसाधारण के अधिक निकट न रहते हुए भी सच्चे जननायक बन जाते हैं । परिस्थितियों के रोचक निरूपण द्वारा और अपनी प्रतिभा तथा कल्पना के बल से जनता का मार्ग-दर्शन कर, कविगण आदिकाल से तत्त्वदर्शी और युग-प्रवर्तक समझे जाते आये हैं । ऐसे युग-प्रवर्तको और तत्त्वदर्शियों में ही तुलसीदास जी की गणना की जाती है । इनकी रचनाओं से, विशेष रूप से, राम चरितमानस से लाखो-करोड़ों अनपढ़ व्यक्ति भी परिचित हैं । इन्होंने भक्ति और रामोपासना की जो सरिता बहाई, उससे शिक्षितवर्ग ही लाभान्वित नहीं हुआ बल्कि अशिक्षित ग्रामीण लोग भी कृतकृत्य हुए । इस दृष्टि से तुलसीदासजी भारत के सफल लोककवि हैं ।

" एक और दृष्टि से भी तुलसीदासजी को हम सच्चा लोकनायक कह सकते हैं । यदि ऐसे प्रमुख ग्रन्थों की सूची तैयार की जाय जिनसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी लाखो-करोड़ो व्यक्ति प्रभावित हुए हैं और जिन्होने जनता के दृष्टिकोण, विचार तथा विश्वास और रहन-सहन पर स्थायी छाप लगाई है, निश्चय ही उन थोड़े-से ग्रन्थों में तुलसीकृत रामचरितमानस की भी गणना करनी होगी । विगत तीन सौ से अधिक वर्षों से रामचरित-मानस की कथा तथा कविता भारत के जनसाधारण के जीवन का अंग बन चुकी है । यद्यपि रामायण की मूल कथा वाल्मीकि ने लिखी थी और उसी के आधार पर उत्तर भारत में तुलसीदास ने और दक्षिण में तामिल के महाकवि कम्बन ने उसे जन-साधारण की भाषा में रूपांतरित किया, किन्तु रामचरितमानस की चौपाइयो और दोहो में व्यक्त की गई कथा को जो व्यापक मान्यता मिली उसके कारण यह कहा जा सकता है कि शायद तुलसीदास वाल्मीकि से आगे बढ़ गये हैं ।"

मीराबाई

परिचय

मीराबाई का जन्म कब हुआ था, उनके पिता कौन थे और वह किसकी विवाहिता पत्नी हुईं—ये सब प्रश्न ऐसे हैं जिन्होंने विद्वानों की बुद्धि को बहुत दिन परेशान रखा। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने जनश्रुतियों के आधार पर और कुछ कल्पना के आधार पर लिखा था—"अपने पिता की गद्दी पर सन् १४४१ ई० में बैठनेवाले राणा कुंभा ने मारवाड के मेडता कुल की कन्या मीराबाई से विवाह किया जो अपने समय में सुन्दरता और सच्चरित्रता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थीं।"[1] कर्नल टाड की इस सम्मति के प्रभाव में आकर बहुत-से लेखकों ने मीराबाई का जन्म-समय १५वीं शताब्दी मान लिया। परन्तु आज की खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि कर्नल टाड का मत तथ्यों की अपेक्षा अनुमान, कल्पना और जनश्रुतियों पर अधिक आश्रित है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार मीराबाई मेडतिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदा जी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्धराव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकडी नाम के गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था।[2] परशुराम चतुर्वेदी ने आचार्य शुक्ल की अन्य सभी बातों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु वे मीरा

---

१ Col Todd "Annals of Rajasthan"

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १८४।

का जन्म सम्वत् १५५५ वि० मानते हैं किन्तु चतुर्वेदी जी ने बड़ी कुशलता से '१५५५ वि० के आसपास हुआ था' यह लिखकर अपने आपको सभी प्रकार के विरोधो से बचाने की चेष्टा की है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मीरा का जन्म विक्रम की १६वीं शताब्दी में हुआ था।

मीरा अपने पिता की इकलौती सन्तान थीं। इनकी माता इन्हें ४–५ वर्ष की अवस्था में ही छोड़कर परलोक सिधार गई थीं। इसके अनन्तर इनका पालन-पोषण इनके पितामह के संरक्षण में बड़े लाड़-प्यार से हुआ। प्रारम्भ से ही माता के सम्पर्क में रहकर इन्होने कृष्ण-भक्ति प्राप्त की थी। यह भक्ति पितामह के धार्मिक सरक्षण मे दिन प्रतिदिन बढ़ती रही।

कालान्तर में मीरा का विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुंवर भोजराज के साथ हुआ। मीरा मेडते से अपनी ससुराल मेवाड आकर प्रथानुसार महल में 'मेड़तणी' कहलाकर प्रसिद्ध हुईं। और उनका वैवाहिक जीवन भी अपने पति के साथ सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। परन्तु इस सुखमय जीवन से उन्हें शीघ्र ही वंचित होना पडा, क्योंकि कुंवर भोजराज विवाह के थोड़े समय बाद ही परलोक सिधार गये।

विवाह के बाद वैधव्य से हुए परिवर्तन को मीरा ने सहर्ष स्वीकार किया। अभी तक उनकी गिरधरलाल की भक्ति में इतनी तीव्रता न आ पाई थी। किन्तु पतिदेव की मृत्यु के उपरान्त उन्होने सारे लौकिक सम्बन्धो के बन्धन सहसा छिन्न-भिन्न कर दिये और चारो ओर से मन हटाकर अपने इष्टदेव के प्रति वे और भी अनुरक्त हो गईं।

लौकिक सम्बन्धों से अनासक्त होने पर मीरा का अधिकांश समय सत्सग और कृष्ण-संकीर्तन में व्यतीत होने लगा। कृष्ण-संकर्तन में कभी-कभी वे इतनी तल्लीन हो जाती थीं कि उन्हें अपने चारो ओर

की परिस्थिति का ज्ञान न रहता था। आवेश में भगवान् कृष्ण को ही पतिरूप में अपने सम्मुख देख वे आनन्दमग्न हो जाती थीं और हाथो से करताल बजाती हुई नाचा करती थीं। ऐसे समय में यदि उनके मुख से यह शब्दलहरी—

मैं गिरधर आगे नाचूंगी। .....

फूट पडती हो तो आश्चर्य क्या ? परन्तु लोक-लाज और कुल की मर्यादा मीरा की दृष्टि में भले ही हेय अथच त्याज्य हो परन्तु सम्बन्धियों को तो उसी में ही अपना कल्याण दृष्टिगत होता था। अत सम्बन्धियों के द्वारा विष और सर्प आदि की भेंट भी मीरा को प्राप्त हुई। परन्तु शीघ्र ही मीरा अपने ससुराल से मायके चली आई। वहाँ से भी कुछ दिन सुख-पूर्वक व्यतीत करने के उपरान्त राजनैतिक उथल-पुथल के कारण उन्हें तीर्थ-यात्रा के लिए चल देना पडा।

मीरा वृन्दावन से होती हुई श्रीद्वारिका चली गई और उन्होंने अपने जीवन का शेष समय वहीं व्यतीत किया। कहा जाता है कि मीरा को द्वारिका से लाने के लिए उनकी ससुराल और मायके—दोनों ही स्थानों से ब्राह्मण आये। उनके साथ चलने के लिए हठ करने पर मीरा रणछोड जी के मन्दिर में आज्ञार्थ गई, परन्तु वहीं मूर्ति में ही समा गईं।

रचनाएँ—मीरा ने अपने जीवन-काल में भगवद्भक्ति के जिन पदो का अपने तम्बूरे और खडताल पर गायन किया, उन्हीं को विभिन्न पुस्तकों में सकलित कर दिया गया है। मीराबाई की रचनाओं में निम्नलिखित पुस्तको के नाम लिये जाते हैं—

(१) नरसी जी रो माहेरो। (२) गीतगोविन्द की टीका। (३) राग-गोविन्द। (४) सोरठ के पद। (५) मीराबाई की मलार। (६) गर्वागीत। (७) फुटकर पद।

इन सभी रचनाओं में से फुटकर पदों को ही अविवादित रूप से

मीरा की रचना कहा जा सकता है। अन्य रचनाओ की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों का कोई निश्चित मत नहीं है।

मीरा का उद्देश्य अपने गिरधरगोपाल के गुणों का गायन करना और उनके प्रति अपने प्रेम को प्रकट करना था। इन्हीं उद्देश्यो को सम्मुख रखकर कवयित्री ने रचना की है। उन्हे अपने उद्‌गारो को प्रकट करने के लिए उस काल में प्रचलित पद-परम्परा ही सबसे सरल साधन प्रतीत हुआ अतः उन्होंने इसी को स्वीकार कर लिया। मीरा के प्रायः समसामयिक कृष्ण-भक्तो ने गीत-गोविन्द के रचयिता के अनुकरण पर पदों की परम्परा को ही अपनाया था;- इसलिए भी मीरा ने अपने गिर-धरगोपाल को रिझाने का उत्तम साधन पदो का गायन ही समझा और उसी में ही अपने उद्‌गारों को प्रकट किया।

पदावली का मुख्य विषय, जैसा कि हमने ऊपर भी सकेत किया है किसी प्राकृत-जन का गुण-गान करना नहीं था। क्योंकि मीरा कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को पुरुष मानने को भी तैयार नहीं थीं अतः पदावली का प्रतिपाद्य विषय कृष्ण की भक्ति ही है।

पदावली के गीतों के आधार पर मीरा की भक्ति का स्वरूप निर्धा-रित कर सकना अत्यन्त कठिन है। उस काल में प्रचलित प्राय. सभी साधनात्मक पद्धतियो का उल्लेख मीरा के पदो में मिल जाता है। कहीं वह अपनी सखी से यह कहती हैं—

आली रे मेरे नैना बान पडी।
चित्त चढी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाड़ी पथ निहारूँ, अपने भवन खडी।······

परन्तु दूसरे ही क्षण वे इस माधुर्य-उपासना को भूल जाती हैं और उन्हें सिद्धों की साधना का विचार हो आता है। तभी वे कह उठती हैं—

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा
तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ
सुख की सेज बिछाऊँ री ॥

परन्तु ये दोनों ही साधनात्मक पद्धतियाँ परस्पर विरोधिनी हैं। एक का सम्बन्ध सगुणोपासना से है तो दूसरी का निर्गुणोपासना से। यद्यपि तुलसीदास ने कहा है—

सगुणहि अगुणहि नहिं कछु भेदा।

परन्तु यह मार्ग विचार का है। मीरा—जिनका एकमात्र उद्देश्य गिरधरगोपाल को ही प्राप्त करना था और वह भी ब्रह्म या इष्टदेव के रूप में नहीं वरन् पतिदेव के रूप में—इस विचार-मार्ग से परे थीं। उन्हें तीव्र अभिलाषा थी कि मुझे गिरधर गोपाल प्राप्त हो क्योंकि उनके लिए—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।

परन्तु उन्होंने यह विचारने की कभी चेष्टा नहीं की कि उस नटनागर की प्राप्ति का उत्तम मार्ग कौन-सा है। वे स्वय कहती हैं—

बाल्या मैं वैरागिन हूँगी।
जी जी भेष म्हाँरो साहिब रीझे, सोइ सोइ भेष धरूँगी ॥

साधना-पद्धति—उपर्युक्त दो पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनका अभीष्ट गिरधर नागर की प्राप्ति है—और उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें जो वेष भी धरना पडे उसके लिए मीरा तैयार हैं। वे उस अपने प्रियतम के लिए वैरागिन हो जाने को प्रस्तुत हैं—मन्दिर में उनके आगे लोक-लाज, कुल-कानि सब छोड नृत्य करने को प्रस्तुत हैं, उसके लिए वे भस्म रमाने और पचरग चोला पहनकर झिरमिट खेलने जाने को भी प्रस्तुत हैं—परन्तु इन सभी का उद्देश्य यही है कि उन्हें किसी प्रकार उनके प्रियतम की प्राप्ति हो जाय।

हमारा विचार है कि उनकी पदावली में साधना की विभिन्न विरोधी पद्धतियो के समाधान का भी मूल मंत्र यही पद है। मीरा में अपने प्रियतम को प्राप्त करने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र है कि उन्हे कोई भी जिस किसी साधना के लिए कह देता है वे उसी को करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। परन्तु उस साधना से वे चाहती अपने प्रियतम की दासता ही हैं। निर्गुणों की भाति जब शून्य की उपासना की ओर संकेत करते हुए कहती हैं—

सतगुर भेद वताइया, खोली भरम किवारी हो।
सव घट दीसै आतमा, सवही सूं न्यारी हो।
दीपक जोऊं ग्यान का, चढूं अगम अटारी हो।

तव भी वे यह कह कर कि—

मीरा दासी राम की, इमरत वलहारी हो।

शून्य की साधना का सम्वन्ध अपने लक्ष्य के साथ कर देती हैं। निर्गुण साधना सम्वन्धी अपने प्रायः सभी पदो में उन्होने ऐसा ही किया है। अत. स्पष्ट है कि उनका लक्ष्य गिरधर नागर की पतिरूप में प्राप्ति ही था। इसीलिए उन्हें जोगिनी अथवा निर्गुण उपासिका की अपेक्षा भक्तिन कहना अधिक उचित है।

एक अन्य वात की ओर भी इस सम्वन्ध में सकेत कर देना उचित प्रतीत होता है। मीरा के निर्गुण सम्वन्धी पदो में वह तल्लीनता नहीं है, जो आत्मनिवेदन सम्वन्धो पदो में है। इसलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कहा था—"वस्तुतः अव्यंतरित, अनभिमानसिद्ध, सहज आत्म-समर्पण का जितना वेग सगुण-मार्ग के भजनो में है उतना निर्गुण-मार्ग के भजनो में नहीं।"

आज भी मीरा के ऐसे पदों में—

सुरत निरत का दिवला सॅंजोले, मनसा की कर ले वाती।
प्रेम हरी का तेल मॅंगा ले, जग रह्या दिन ते राती।।

सुननेवाले को कोई भी आकर्षण प्रतीत नहीं होता—परन्तु दूसरी ओर मीरा के इस गीत में—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोई।

में लाखों को एक-साथ आकर्षित करने की शक्ति है। इसमें गायिका ने अपनी समस्त आत्मा ही मानो एक-साथ उँडेल देने का प्रयत्न किया है। उसकी वेदना में सहभागी होने के लिए गीत सुनते ही श्रोता का हृदय खिचता हुआ चला आता है और वरवस उसकी आँखों से दो अश्रु-मुक्ता ढल जाते हैं।

इतना ही नहीं, कबीर आदि निर्गुण-भक्तों की भाँति जब वे नाम से नाता जोड लेती हैं तब भी उनकी दशा एक विरहिणी से अधिक नहीं होती। अपने अन्तस् की वेदना को प्रकट करते हुए स्वय कहती हैं—

पानां ज्यूं पीली पडी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लांघण मैं कियो रे, राम मिलण के जोग॥
बाबुल बैद बुलाइया रे, पकड दिखाइ मेरी बाँह।
मूरख बैद मरम नहि जाणै, कसक करेजा माँह॥

इतने से उन्हें सन्तोष नहीं होता। वे आगे अपनी कसक से पीडित होकर इतना तक कह देती हैं—

काढि कलेजो मैं धरूँ रे, कागा तू ले जाइ।
ज्यां देसा म्हारो पीव बसत है, वे देखै तू खाइ॥
नातो नाम को जी मोसे

मीरा के कलेजे की इस कसक को सुनने के उपरान्त भी यदि कोई उन्हें निर्गुण साधिका ही बताता है तो उसकी निर्णयात्मिका बुद्धि पर हमें सन्देह है।

निर्गुण और सगुण इन दो भावनाओं के मिश्रण से मीरा के पदों में कहीं-कहीं रहस्यवादात्मक भावना का उद्भावन दीख पडता है। उन्हें

अपने प्रियतम की अत्यधिक उत्कण्ठा है परन्तु प्रिय लौकिक नहीं, अलौकिक है। उसके लिए तुलसी आदि सगुणवादी भक्तों ने भी—

नित्य निर्मुक्त निर्गुण निरजन निजानन्द निर्वाण निर्वाणदाता।
निर्भरानन्द निष्कम्प नि सीम·········

आदि इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया है। ऐसे अलौकिक गिरधर के प्रति आत्म-समर्पण की इच्छा में यदि रहस्यमयता आ जाती है तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका यह पद—

मैं गिरधर रँगराती सैयाँ, मैं ॥
पँचरग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती ॥
जिनका पिया परदेस वसत है, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हीय वसत है, ना कहुँ आती जाती ॥
···············

इसी रहस्यभावना का सूचक है। ऊपर साधारण अर्थ के सूचक इस पद का तात्पर्य यह है कि कर्मानुसार प्राप्त मानव-शरीर का आवरण धारण किये हुए जीवात्मा-रूप से वे अपना जीवन-यापन कर रही थीं कि किसी समय उन्हें, इस दैनिक व्यवहार के अन्तर्गत ही, परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य का बोध हो गया और वे उक्त काल्पनिक आवरण की भावना का परित्याग कर उसके साथ एकरूप हो गईं। तब से उन्हें 'सब घट' में आत्मा प्रत्यक्ष होने लगा।

इस पद का यदि रहस्यभावना को दूर करके परीक्षण किया जाय तो यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि मीरा की भक्ति माधुर्य-भाव की थी। माधुर्य-भाव की भक्ति अन्य प्रकार की शान्त, दास्य, सख्य या वात्सल्यादि से भिन्न है। 'शान्त' के अनुसार भक्त, भगवान् के सगुण रूप का अनुभव कर उनका स्वरूप-चिन्तन किया करता है और दास्य के अनुसार उनके ऐश्वर्य-चिन्तन में मग्न रहकर उनका गौरव-गान

करता रहता है, तथा इसी प्रकार 'सख्य' के अनुसार वह भगवान् को किशोरावस्था का सखा मान, उनसे न्यूनाधिक अनियन्त्रित प्रेम करने लगता है और 'वात्सल्य' के अनुसार उनके बालरूप पर ही अधिक मुग्ध होकर उनकी बाललीला का रसास्वादन किया करता है। परन्तु माधुर्य-भाव की भक्ति में भक्त भगवान् को अपने पति वा सर्वस्व के रूप में देखता है और इसी कारण उनके साथ उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्टता का हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि माधुर्य-भाव की भक्ति शृङ्गार-रस से मिलते-जुलते हुए भी भिन्न है। मधुर-रस के भी भाव, विभाव, अनुभावादि प्राय उसी प्रकार के होते हैं जैसे शृङ्गार-रस के। परन्तु जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है—"शृङ्गार-रस का विषय, सासारिक होने से, जड-मूर्तिरूप है, किन्तु मधुर-रस का विषय अलौकिक एव स्वय भगवान् स्वरूप है, अतएव शृङ्गार-रस के स्थायी भाव रति का सम्बन्ध यदि स्थूल शरीर या लिंगशरीर से है तो मधुररस, एक प्रकार के स्वय आत्मा का ही धर्म है।"[1] मधुर-रस नितान्त नित्य, एकरस व स्वार्थ-रहित, अतएव 'कामगधहीन' हुआ करता है। ऐसे प्रेम में कामवासना को भी स्थान नहीं, 'कामगधहीन' होने पर ही उस 'गोपी-भाव' की प्राप्ति होती है,[2] जो शृङ्गार की मधुर-रस में परिणति है। और मीरा तो 'ललिता' गोपी की अवतार प्रसिद्ध है।

माधुर्य-भक्ति की प्रधानता के कारण ही, मीरा की पदावली में शृङ्गार रस की प्रधानता है। शृङ्गार रस यहाँ अपने दोनों ही रूपों—सयोग और वियोग—में दृष्टिगत होता है। जहाँ उन्होंने यह कहा—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई॥

---

१ मधुर रस की साधना ('कल्याण'-साधनाक) पृ० १७५

२ 'काम-गधहीन हइले गोपी भाव पाय' (विवर्त-विलास)

वहाँ उसके विरह में तड़पते हुए कहा—

प्यारे दरसन दीजो आय, तुम बिन रह्यो न जाय।
जल बिन कंवल चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम देख्या बिन सजनी।
आकुल-व्याकुल फिरूँ रैन-दिन, विरह कलेजे खाय॥

भावपक्ष—रस-परिपाक की दृष्टि से संयोग शृङ्गार में आलम्बन कृष्ण हैं जिनको 'माधुरी मूरति', 'चन्द्रकलायुक्त मोरमुकुट', टेढ़ी पाग काली-काली लटकें, मकराकृत कुण्डल, गले में लहराती हुई वैजयन्ती और हाथ में ली हुई मधुर-रस की वर्षा करने वाली मुरली—ये सब उद्बुद्ध रतिभाव को उद्दीप्त रति को उद्दीप्त करने वाले साधन हैं। इसी उद्दीप्त साधन के अनुभाव के रूप में हम यह सुनते हैं—

म्हाने चाकर राखो जी, म्हाने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ॥

और यही चाकरी अपने स्वामी को रिझाने के लिए उनके आगे पदघुंघरू बांध कर नाचती है। जब इससे सन्तोष नहीं होता तो वे कह देती हैं—

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ॥

इसी प्रीति के प्रदर्शन में आवेग-हर्ष आदि सचारी भाव हमें उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु विरह ही प्रेम का तप्त स्वर्ण है अत. मीरा की पदावली में हमें विरह-वर्णन की प्रधानता दृष्टिगत होती है। मीरा के विरह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें आन्तरिक वेदना का समावेश अधिक होने से मानसिक पक्ष की प्रधानता दृष्टिगत होती है। शारीरिक तपादि का वर्णन कम होने से शारीरिक पक्ष गौण समझा जा सकता है। कई पदो में शारीरिक पीड़ा का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है परन्तु यहाँ वेदना की तीव्रता और स्वानुभूति के कारण वह अस्वाभाविकता नहीं खटकती।[1]

१. मास गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आँगलियाँ रो मूंदड़ो, म्हारे आवण लागी बाँहि॥

उनका 'विश्वास सगाती' प्रभु 'नेहडो' लगाकर चला गया है, और उन्हें 'प्रेम की बाती बताकर' एव नेह की नाव चलाकर' 'विरह समँद' में छोड गया है, उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता। इस असह्य भावना से अत्यन्त दु खिनी बन, वे कटारी से 'कठमार' कर अथवा 'विष खाकर' भी अपने प्राण देने पर उतारू हैं, क्योंकि उनकी समझ में नहीं आता कि इस दुर्दशा में भी, आखिर ये पापी उनके 'पिंड' या शरीर को आपसे आप क्यों नहीं छोड भागते। 'रमैया बिन' उन्हें नींद नहीं आती। सारी रात प्रभात की प्रतीक्षा में ही व्यतीत हो जाती है।

होली के समय उनका विरह और भी तीव्र हो उठता है। सखियां बुलाती हैं, परन्तु उनका उत्तर है—

किण सँग खेलूं होली, पिया तज गये हैं अकेली।

सावन में काले बादलों से विरहिणी डरती है, और ऊपर से पपीहा पिउ-पिउ की वाणी बोलकर और भी सताता है।

अपने पदों में कहीं-कहीं मीरा ने नटनागर को जोगी भी सम्बोधित किया है परन्तु केवल वहीं जहां वे स्वय जोगिन हैं। इस प्रकार के पदों से भी माधुर्य-भाव ही ग्रहण करना चाहिए, न कि लौकिक श्रृङ्गार रस। अत श्रृङ्गाररस के सभी पदों में आलम्बन भगवान् कृष्ण ही हैं और आश्रय स्वय मीरा हैं।

कलापक्ष—मीरा के पदों के भावपक्ष पर इतना विचार करने के उपरान्त उनके कलापक्ष पर भी कुछ देखना आवश्यक है। वास्तव में मीरा के पदों में भावों की ही प्रधानता है परन्तु भाव-तीव्रता के कारण भाषा में स्वभावत प्रवाह आ गया है। उससे अलकारों का भी स्वाभाविक प्रवेश हुआ है। कहीं भी वह चेष्टानुसार थोपे हुए प्रतीत नहीं होते। 'अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई' में रूपक स्पष्ट है। उपमा के लिए हम 'पानां ज्यूं पीली पडी रे' यह पक्ति ले सकते हैं। निम्न पद अत्युक्ति का सुन्दर उदाहरण है—

मांस गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आंगलियारो मूंदड़ो, म्हारे आवरा लागो बाँहि॥

इसी प्रकार 'विन करताल पखावज वाजै' में विभावना अलंकार दृष्टिगत होता है।

मीरा की पदावली की भाषा में एकरसता नहीं है। उसमें वहुत-से पद ऐसे हैं जो राजस्थानी में हैं और कुछ की भाषा व्रजभाषा वा गुजराती कही जा सकती है। किन्तु अधिकाश में राजस्थानी, ब्रजभाषा, गुजराती अथवा कहीं-कहीं पंजावी, खड़ीवोली व पूरवी तक का न्यूनाधिक सम्मिश्रण है। दूसरी वात यह भी है कि उनके पदों की भाषा उसी रूप में है जिसमें मीरा ने रचना की थी या परिवर्तित—यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता। वैसे मीरा ने जहां-जहां का भ्रमण किया वहां की शब्दावली भी उनके पदों में आ गई 'म्हाने लागी कटारी प्रेम नी रे' वाला पद गुजराती की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त मीरा के पदो की भाषाशैली अधिकतर सीधी-सादी, सरल और चलती हुई है। लोकप्रिय एवं गाने योग्य होकर ही वे वहुत दिनों तक एक से अधिक प्रांतों में वरावर प्रचलित रहते आये और समयानुसार उन पर भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रभाव स्वभावतः पड़ता गया।

अन्त में समग्र रूप से यही कहा जा सकता है कि राजस्थान की मजु-मदाकिनी मीरा हमारे सम्मुख कवयित्री की अपेक्षा भक्तिन के रूप में अधिक आती हैं। उनके द्वारा प्रवाहित रस-धारा आज भी कोटिशः धार्मिक नर-नारियों को आप्लावित कर रही है। उन्होंने स्वय गोविन्द को मोल लिया और उनका निम्न पद आज भी अनेको गोविन्दों को प्रीति से मोल लेने की प्रेरणा दे रहा है—

माई री, मैं तो लियो गोविन्दो मोल।

केशवदास

परिचय

सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न केशवदास के पिता का नाम काशीनाथ था। इनका जन्म सवत् १६१२ में और मृत्यु सवत् १६७४ के आस-पास हुई। इनके घराने में सस्कृत पढ़ने-पढ़ाने का आरम्भ से ही प्रचलन था। इसके साथ ही इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थितियो में रहकर जहाँ ये साहित्य-शास्त्रज्ञ हुए वहाँ दूसरी ओर प्रसिद्ध कवि भी। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह के ये दरबारी कवि थे। वहाँ इनका यथोचित सम्मान था।

केशव के जन्म से कुछ ही समय पूर्व रस-अलकार आदि काव्यागो के विवेचन की ओर कुछ हिन्दी-कवियो का ध्यान जा चुका था और जाना स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिन्दी में कई लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। अब यदि कमी थी तो लक्षण-ग्रन्थों की। केशवदास सस्कृत-साहित्य से भली भाँति परिचित थे और भाषा के कवि होने के कारण स्वाभाविक रीति से ही इनके मन में तत्कालीन लक्षण-ग्रन्थो के प्रचार की प्रवृत्ति जागरित हुई।

केशव से पूर्व काव्य के विभिन्न अगो पर ही कवियो ने लिखा था। काव्याग पर पूर्ण रूप से अभी तक नहीं लिखा गया था, अत. केशव ने हिन्दी कवियो की इस कमी को पूर्ण किया।

केशव के रचे सात ग्रन्थ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञान-गीता, रतन-बावनी और जहाँगीर-

जस-चन्द्रिका। इनमें 'कविप्रिया' की रचना इन्द्रजीतसिंह के दरबार व
नर्तकी रायप्रवीण को काव्य की शिक्षा देने के लिए हुई थी। 'रसिकप्रिय
भी इसी प्रकार की काव्य-शास्त्र की पुस्तक है। इन साधारण-जन-गु
गान से विरत होने की, स्वप्न में वाल्मीकि से शिक्षा पाकर कवि ने रा
चन्द्रिका की रचना की परन्तु आश्चर्य है कि तदुपरान्त इन्होंने पि
अपनी अन्य पुस्तकों में तत्कालीन नृपों का गुण-गान किया। सच
दरबार में रहने वाले कवियों का कूटनीतिज्ञ होना सहज है पर स्थिरचि
होना सहज नहीं।

केशवदास अलंकारवादी थे। इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त॥

इसी कारण उन्होंने अपने काव्याङ्ग-निरूपण मे अलकार को प्रधान
रखी। संस्कृत के भी उन्हीं आचार्यों का इन्होंने अनुकरण किया
अलकारों को ही काव्य का सब कुछ समझते थे। भामह, उद्भट अ
दण्डी आदि ऐसे ही आचार्य हैं जिन्होंने रस-रीति आदि सभी को अलक
के अन्तर्गत ले लिया है। परन्तु केशव के ५० वर्ष उपरान्त जो रीि
परम्परा हिन्दी-काव्य में चली उन्होंने इन आचार्यों का अनुसरण न
साहित्य-शास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप मे लाने व
मम्मट, आनन्दवर्द्धनाचार्य और विश्वनाथ का अनुसरण किया।

केशव ने 'कविप्रिया' में अलकारों का और 'रसिकप्रिया' में रस
विवेचन किया है। वस्तुत इन ग्रन्थों में जैसा कि आचार्य शुक्ल ने व
है, केशव का अपना विवेचन कहीं दिखाई नहीं पड़ता। सारी साम
कई संस्कृत-ग्रन्थों से ली हुई मिलती है। नामों में अवश्य कहीं-कहीं थो
हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ
'उपमा' के जो २२ भेद केशव ने रखे हैं उनमें से १५ तो ज्यों-के-
दण्डी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिये गये हैं। शेष रहे

भेद—सकीर्णोपमा श्रौर विपरीतोपमा। ये भी कुछ असगत हैं।

रामचन्द्रिका—केशव का प्रमुख काव्य-ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' है। अलकारवादी होने के कारण केशव के आलकारिक चमत्कारों का प्रभाव हमें रामचन्द्रिका में भी देखने को मिलता है। यह अवतारी रामचन्द्र की प्रचलित कथा को लेकर लिखा गया है। इन दिनों उत्तर भारत में वाल्मीकि की रामायण के ही समान प्रसन्नराघव श्रौर हनुमन्नाटक भी बहुत प्रचलित थे। केशव की रामचन्द्रिका इन सब ग्रन्थों से प्रभावित है।

केशव ने वाल्मीकि रामायण से कम आधार ग्रहण किया। वाल्मीकि के समान केशव ने रामचन्द्रिका में अनेक उपाख्यानों-कथाओं तथा गाथाओं का वर्णन नहीं किया है। रामचन्द्रिका में प्राय मुख्य-मुख्य प्रसङ्गों को ही चुन लिया गया है। बालकाण्ड का नारद-सम्वाद, अश्वमेध यज्ञ, राम का जन्म, विश्वामित्र की शिक्षा, चारों भाइयों का विवाह छोड दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य काण्डों से मन्थरा-प्रसग, जटायु-मिलन, सीता का विलाप, लक्ष्मण द्वारा राक्षसों का वध आदि प्रसग छोड दिये गये हैं श्रौर उत्तर-काण्ड की प्राय. सारी ही कथा छोड दी गई है।

इस वैषम्य के अतिरिक्त दोनो ग्रन्थों में साम्य भी पर्याप्त है। बाल-काण्ड में अयोध्या का वर्णन, बरात के लौटते समय परशुराम-मिलन, हनुमान् का सीता-खोज के समय में रावण के अन्त पुर में प्रवेश, लवणा-सुर का वध आदि कथाएं दोनों ग्रन्थों में समान रूप से वर्णित हैं।

दामोदर मिश्र के हनुमन्नाटक के साथ रामचन्द्रिका का भावसाम्य अत्यधिक है। केशव ने हनुमन्नाटक के पद्यों का कहीं-कहीं तो शब्दशः श्रौर कहीं-कहीं भावानुवाद कर दिया है। रामचन्द्रिका में आये इस छन्द—

मातु कहाँ नृप ? तात गए सुरलोकहिं, क्यो ? सुत शोक लए
... .

का मूल रूप हनुमन्नाटक में इस प्रकार है—

मातस्तात क्व यातः ? सुरपतिभवन, हा कुतः ? पुत्रशोकात्,
.... ।

इसी प्रकार पंचवटी का यह वर्णन—

सब जात फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी ।
....

वस्तुतः हनुमन्नाटक के इस श्लोक—

एषा पञ्चवटी रघूत्तमकुटी यत्रास्ति पचावटी,
.... ।

का काकुवाद है ।

तीसरा ग्रन्थ जिसका प्रभाव रामचन्द्रिका पर लक्षित होता है, जयदेव का प्रसन्नराघव है । केशव ने कहीं-कहीं प्रसन्नराघव के गद्यो को हिन्दी-पद्यों में रूपान्तरित कर दिया है । सुमति-विमति द्वारा राजाओ का परिचय रामचन्द्रिका में प्राय. वही है जो प्रसन्नराघव में । उदाहरण के लिए रामचन्द्रिका की यह उत्प्रेक्षा—

नचति मच-पचालिका कर सकलित अपार ।
नाचति है जनु नृपन की चित्तवृत्ति सुकुमार ।।

वस्तुत. प्रसन्नराघव के इस श्लोक से ली गई है—

नटति नरकराग्र - व्यग्र - सूत्राग्रलग्न-
द्विपद - रनशलाका मञ्चपाचालिकेयम् ।
....

जब हम सम्पूर्ण रूप से केशव के कथा-क्रम पर दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने कथा-क्रम-निर्वाह की बहुत उपेक्षा की है । प्रायः अधिक स्थलों पर वे बिना विचारे ही सूचनामात्र देकर आगे बढ़ जाते हैं । उनको पल्लवित करने का जैसे उन्हें अवकाश ही न

हो। ताडका-प्रसग का केवल उल्लेखमात्र ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विवाह की कथा को एक छन्द में ही कह दिया गया है।

इसके अतिरिक्त कई ऐसे प्रसङ्गों में, जिनके विषय में पूर्व सूचना देना आवश्यक था, केशव ने कोई सूचना नहीं दी। रामचन्द्र जनक तनया के स्वयवर में पहुँच जाते हैं परन्तु पाठक को यह नहीं पता चलता कि ये जनक हैं कौन ? इसी प्रकार कैकेयी के कोप का बिना कोई कारण दिये ही उनके मुख से जब कवि यह कहला देता है—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी ॥

तो पाठक आश्चर्य-चकित होकर ही रह जाता है। दूसरी ओर जहाँ केशव ने प्रसग को समुचित विस्तार किये बिना ही जल्दी ही समाप्त करने की चेष्टा की है। वहाँ तो कथा क्रम ही नहीं अपितु आदर्श ही बिगड गया है। अपने वन-गमन की चर्चा सुनते ही राम न तो पिता से ही आज्ञा लेने जाते हैं और न ही माता के चरण-स्पर्श करने, बल्कि वे सीधे ही 'विपिन-मारग बीच' विराजने लगते हैं।

इस प्रकार कवि ने बाल-काण्ड को अत्यन्त सक्षेप में कह दिया है—लका-काण्ड में कुछ विस्तार अवश्य है परन्तु उत्तर-काण्ड में फिर सक्षेप हो गया है।

कथा-क्रम की उपेक्षा के साथ-ही-साथ कवि ने रामकथा से असम्बद्ध स्थलो को भी स्थान दिया है और कहीं-कहीं तो अनावश्यक प्रसगों की भी उद्भावना की है। २१वें प्रकाश का दान-विधान और सनाढ्योत्पत्ति-वर्णन इसी प्रकार का है। इसके अतिरिक्त राम की सांसारिक विरक्ति और इसी में बाल-यौवन और बुढ़ापे की बुराइयो का वर्णन तथा काम-क्रोधादि का वर्णन—यह सब अप्रासगिक है।

वस्तुत. जैसाकि केशव ने अपने ग्रन्थारम्भ में ही कहा है—

जागत जाकी ज्योति जग एकरूप स्वच्छन्द।
रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द ॥

उन्होंने राम-कथा-वर्णन की अपेक्षा रामचन्द्र की अथवा उनके पिता राजा दशरथ की चन्द्रिका-वर्णन में अपनी सारी काव्य-प्रतिभा खर्च कर दी है। २७ छन्दों में सरयू, दशरथ के हाथी-घोड़े और उद्यान का वर्णन इसी बात की पुष्टि करता है। वैसे भी केशव की रुचि जितनी वस्तु-वर्णन में है, उतनी कथा-वर्णन में नहीं। यही कारण है कि कथा के प्राय: सभी मार्मिक स्थल उपेक्षित रहे हैं। इसीलिए शुक्लजी ने कहा —"यह समझ रखना चाहिए कि केशव उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीडा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी।"

केशव ने कहीं-कहीं घटनाओं में परिवर्नन भी किया है, परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि घटनाओं का परिवर्तन कथा को संक्षिप्त करने के लिए ही है न कि काव्य-कला की उत्कृष्टता के लिए। संक्षेपता के लिए उन्होंने कहीं-कहीं आकस्मिक घटनाओ का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए रावण के शरासन उठाने के लिए तुल जाने पर कवि ने एक से तो यह कहलवा दिया कि मैं तो केवल राजसभा देखने आया और 'राज करे तेरी राजकुमारी' ; और रावण के लिए—

काहू कहूँ सर आसर मारयो।
आरत शब्द अकास पुकारयो॥
रावण के यह कान परयो जब।
छोड स्वयवर जात भयो तव॥

अत कहा जा सकता है कि कथाओ में परस्पर सम्बन्ध-निर्वाह की चेष्टा नहीं है, वे स्थान-स्थान पर टूटी हुई दृष्टिगत होती है। प्रतीत होता है, केशव हनुमन्नाटकादि से इतने प्रभावित थे कि वे अपनी रचना को भी उसी साँचे में ढालने का लोभ नहीं संवरण कर पाये। अतः उनकी शैली भी नाटकों की-सी है। कथा का चलता प्रभाव न रख सकने के

कारण ही उन्हें बोलने वाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग रखने पड़े हैं।

कथा-क्रम के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण में भी केशव बहुत असफल रहे हैं। उन्होने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के फेर में कभी भी पात्रों के मूल भाव को पकड़ने की चेष्टा नहीं की, अत अपने पात्रों के लिए उन्होंने कहीं-कहीं ऐसे अनुपयुक्त शब्द कह दिये हैं कि पाठक पढ़कर दग रह जाता है। वन जाते हुए राम के लिए जब यह कहा जाता है—

किधौं मुनिसाप हत किधौं ब्रह्मदोपरत,
किधौं सिद्धियुत सिद्ध परम विरत हौ।
किधौं कोउ ठग हौ ठगौरी लीन्हें किधौं तुम
हर हरि श्री हौ, सिवा चाहत फिरत हौ।

तो उसकी यही दशा होती है। केशव स्वय राजदरबार में रहने वाले कुटनीतिज्ञ थे अत उन्होंने अपनी इस भावना का आरोप अपने पात्रों पर भी किया है। इसी का परिणाम है कि जब लक्ष्मण भी राम के साथ वन जाने का आग्रह करते हैं तो राम उन्हें उपदेश देते हैं—

धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सुदीरघ दुख हरौ॥
आय भरत्थ कहा धौं करैं जिय भाय गुनौ।
जो दुख देयँ तौ लै उर गौं यह सीस धरौ॥

इन पक्तियो से यही ध्वनि निकलती है कि राम को भरत के चरित्र पर विश्वास नहीं है। भरत के दिये हुए दुख को चुपचाप सह लेने की शिक्षा से यह ध्वनि भी निकल सकती है कि हम आकर भरत को देख लेंगे, तुम चुप रहना। ऐसी अवस्था में एक ओर राम के चरित्र की गभीरता नष्ट हो जाती है, दूसरी ओर भरत का चरित्र बहुत नीचे गिर जाता है।

यही कूटनीतिज्ञता की प्रवृत्ति कहीं-कहीं काव्योचित भी हुई है। रावण का अंगद को फोड़ने का प्रयत्न ऐसा ही है। रावण अगद से कहता है—देखो, इन्होंने तुम्हारे पिता और हमारे मित्र वाली को मारा है अतः तुम मेरा सारा दल ले जाकर इन्हें मार दो—

तो से सपूतहिं जाय के वालि अपूतन की पदवी पगु धारै।
अगद सग लै मेरो सबै दल आजुहि क्यो न हते वपु मारै॥

केशव ने इस कूटनीति के दाँव-पेंच राम-रावण के बीच भी दिखाये है। ऐसे स्थलो पर काव्य का स्तर कुछ ऊपर उठ गया है।

वस्तुत रीतिकालीन कवियो की भाँति केशव का भी मूलमत्र यही प्रतीत होता है—

आगे के सुकवि रीझिहैं, तो जानो कविताई
न तो राधा गुविंद के सुमिरन को वहाना है।

इससे स्पष्ट है कि इन कवियो के हृदय में सच्ची भक्ति नहीं है। और ऐसी अवस्था में सहृदय-सवेद्य भावनाओं की सृष्टि सम्भव नहीं। यही कारण है कि केशव ने जहां एक ओर राम के वियोग-वर्णन में यह कहकर—

वासर की सपति उलूक ज्यों न चितवत।

राम को उल्लू तक कह दिया, वहाँ दूसरी ओर सीता के विषय में यह कहकर—

मग को श्रम श्रीपति दूर करै, सिय को शुभ वाकल अचल सों।
श्रम तेउ हरै तिनको कहि केसव चचल चारु दृगचल सों॥

उनको रीतिकालीन राधिका के समकक्ष ठहरा दिया है।

चरित्र-चित्रण—हम ऊपर भी कह आये हैं कि केशव ने कथा-प्रसगों का समुचित निर्वाह नहीं किया। वह बीच-बीच में टूटे-से प्रतीत

होते हैं। अतः चरित्रों का पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो सका है। राम के राज्याभिषेक की बात सुनते ही जब कैकेयी राम को वनवास देने की बात सोचने लगती है तो यही प्रतीत होता है कि उसे राम से कोई स्वाभाविक द्वेष था, परन्तु बात ऐसी नहीं थी। कैकेयी का द्वेष वास्तव में द्वेष नहीं था। वह आकस्मिक क्रोध था जिसके लिए कैकेयी के स्वभाव का भोलापन और मथरा की दुष्टता बहुत-कुछ उत्तरदायी थी। मथरा के चरित्र को छोड़ देने से कैकेयी का चरित्र बहुत गिर जाता है।

इसी के आगे राम को वन जाने के लिए अभी किसी ने नहीं कहा है। न जाने किसके मुंह से उन्हें समाचार मिला और वे वन जाने को तैयार हो गये—

उठि चले विपिन कहँ सुनत राम,
तजि तात मात तिय बंधु धाम।

इससे यही प्रतीत होता है कि अयोध्या का राजमहल माता-पिता तथा अन्य स्वजनो के स्नेह से स्निग्ध एक आदर्श कुटुम्ब न था, एक सराय अथवा धर्मशाला थी जिसमें रामचन्द्रजी कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे, और अपने नियत दिन पूरे कर चलते बने। ऐसे ही जब हम देखते हैं कि राम वन-मार्ग में बिना ही किसी कारण विराध को मार देते हैं तो उनका यह कार्य एक साधारण कोटि के व्यक्ति का कार्य प्रतीत होता है जो अपनी प्रिया की प्रसन्नता के लिए इस प्रकार के काण्ड रचा करते हैं।

वाल्मीकि और तुलसी की जो पात्रों के प्रति मान्यताएँ थीं उनको केशव ने स्वीकार नहीं किया है। इसके परिणामस्वरूप सीता का चरित्र तो राधा के समीप पहुँच ही गया है, अन्य पात्रो के चरित्र का भी पतन हुआ है। तुलसी की कौशल्या लोक-संग्रह का भाव रखते हुए छाती पर पत्थर रख राम को वन जाने के लिए आज्ञा दे देती है। परन्तु केशव की कौशल्या राम के मुख से वन-गमन का सवाद सुन एकदम बिगड़ उठती है और कहती है—

अवधपुरी महँ गाज परे।

उन्हें आवेश में इतना भी स्मरण नहीं रहता कि जिस नगरी के विषय में यह बात कह रही हूँ उसमें मेरे पति दशरथ भी रहते हैं और सुमित्रा भी। इतना ही नहीं, इसके उपरान्त वे स्वयं भी राम के साथ वन जाने के लिए तैयार हो जाती हैं—

मोहि चलौं वन सग लियें, पुत्र तुम्हे हम देखि जियें।

परन्तु तुलसी की कौशल्या बड़ी गम्भीरता, बड़ी दूरदर्शिता तया बड़े आत्मत्याग से कहती हैं—

जो मैं कहहु सग मोहि लेहू। तुम्हरे हिय उपजै सदेहू॥

इसके अतिरिक्त केशव के राम भी तुलसी की भाँति मर्यादा-पुरुषोत्तम नहीं; वे उग्र, क्रोधी, उतावले, अशान्त, व्यग्र और शृङ्गारी मनोवृत्ति के हैं। सीता भी आदर्श पत्नी नहीं और साथ ही रामचन्द्रिका में भरत भी क्रोधी, हठी और दुराग्रही सिद्ध किये गये हैं। केशव के सभी पात्र दुहरे व्यक्तित्व को लेकर चलते हैं, एक उनका अपना व्यक्तित्व और एक कवि का आरोपित—दोनो में कुछ समानता नहीं। कहीं एक प्रधान हो उठता है और कहीं दूसरा। अतः पात्रो के चरित्र में समरसता नहीं आने पाई।

प्रकृति-चित्रण—जब हम केशव के प्रकृति-चित्रण की ओर ध्यान देते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें प्राकृतिक दृश्यो में कोई आकर्षण नहीं था। उन्होने जहाँ भी अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यो की आयोजना की है, वह सब पूर्व-परम्परा पर आधारित है। उनके सभी प्राकृतिक वर्णन रूढ़िबद्ध हैं। उन्हें व्यक्तिगत रूप से अपने चारो ओर फैली हुई प्रकृति के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। उन्होने अपनी इस मनोवृत्ति का परिचय निम्न पंक्तियों में दिया है—

देखे मुख भावै, अनदेखेई कमलचद,
ताते मुख मुखैं सखी कमलौ न चद री।

ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यो के सच्चे वर्णन की आशा करना व्यर्थ है। पचवटी जैसे रमणीक स्थानों के इस वर्णन—

सब जात फटी दुख को दुपटी कपटी न रहे जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हूँ घटी जगजीव जतीन की छूटि तटी॥
अघ ओघ की वेरी कटी विकटी निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी बन पचवटी॥

में भी हमें शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के भद्दे खिलवाड के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता।

केशवदास जी ने नदी, पर्वत, उपवन, षड्ऋतु, वारहमासा, सूर्योदय, समुद्र इत्यादि अनेक दृश्यों तथा ऋतुओं का वर्णन किया है, परन्तु एक बात उनके सब वर्णनों से स्पष्ट होती है कि उनका मन प्रस्तुत विषयों की रमणीयता में मग्न नहीं होता। वे अप्रस्तुत की कौतूहलपूर्ण योजना में ही लगे रहते हैं। प्रकृति की रमणीयता में सहृदयता से अनुरक्त होने के लिए जिस सुकुमार हृदय की अपेक्षा है वह केशव को नहीं मिला था अथवा उनके काव्य के सिद्धान्त इन सब बातो के साथ मेल नहीं खाते थे। न तो हम उनके हृदय में वह सहृदयता पाते हैं जो अपने तथा पराये सब के सुख-दुःख से प्रभावित हो सके, न वह विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति जो अपने चारो ओर फैले हुए प्रकृति के रम्य उपादानों को देखकर अनुरक्त हो सके। रामचन्द्रिका में जब-जब प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण का अवसर आया, वे शब्दो का चमत्कार दिखाने लगे। यह करामात वास्तविक विषय को दूर फेंक देती है। केवल शब्द साम्य के आधार पर लाये गये उपमान सौन्दर्य को नष्ट कर देते हैं। दण्डक वन के इस वर्णन में—

वेर भयानक-सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै॥
पाडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥

हम यही बात पाते हैं। 'अर्क' शब्द का अर्थ 'सूर्य' भी होता है और

मदार-वृक्ष भी। मदार के वृक्ष को देखकर उन्हें प्रलयकाल के बहुसख्यक सूर्यों का ध्यान आ जाता है और वे भय के मारे कांपने लगते हैं। शब्दों का चमत्कार अधिक-से-अधिक यदि कुछ कर सकता है तो यह कि हमारे हृदय में एक कौतूहल को जागरित करे। पर शब्द-साम्य से ऐसा प्रभाव कभी नहीं होता कि किसी को भय लगने लगे। इसी प्रकार भीम और अर्जुन का अर्थ क्रमशः ककुभ और अम्लवेतस भी होता है। ये वृक्षो की दो विशेष जातियाँ हैं। साम्य के आधार पर कवि को यह सम्पूर्ण वन पाडव की प्रतिमा के समान दिखाई देने लगता है। कवि को इतना ध्यान नहीं रहता कि पाडवों को उत्पन्न होने में अभी एक युग बाकी है।

नदियों के वर्णन करने का अवसर उनको तीन वार मिला। सरयू, गोदावरी तथा बेतवा नदियों के वर्णन उन्होने किये हैं। ये वर्णन प्रायः आलंकारिक हैं। गोदावरी के इस वर्णन में—

विषमय यह गोदावरी, अमृतन के फल देति।
केसव जीवन-हार के, दुख असेष हर लेति॥

स्पष्ट ही विरोधाभास अलंकार का चमत्कार है। केशव ने कहीं-कहीं भावों की सुन्दर व्यंजना भी की है। सूर्योदय-वर्णन में जब वह यह कहते हैं—

परिपूरन सिन्दूर दूर कैंधो मगल घट।
किधौ सक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट॥

तो प्रतीत होता है कि कवि सहृदय है, परन्तु आगे ही जब वह इसके साथ यह भी जोड़ देता है—

कै सोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।

तो उसकी हृदय-हीनता भी स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इससे यह कभी नहीं समझना चाहिए कि उनके काव्य में सुन्दर भावो की अभिव्यजना बिल्कुल है ही नहीं। केशव की श्रावण-कालीन यह कल्पना बहुत मार्मिक है—

रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन ।
मनभावन कहँ मेटि भूमि कूजत मिस मोरन ।।

केशवदास अलकारवादी कवि थे, जैसाकि उनकी इस पक्ति—'भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त' से स्पष्ट है । परन्तु फिर भी उन्हें यह बोध था कि अलकारों को लाद देने से भी शृङ्गार बिगड जाता है । उन्होंने स्वयं कहा है—

काहे को सिंगारि के बिगारति है मेरी आली,
तेरे अग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं ।

इसलिए जहाँ कहीं भी उन्होने सचेत होकर अलकारों का प्रयोग किया है, वहाँ भावो की अभिव्यजना बहुत सुन्दर हुई है । भरत के ननिहाल से आने का समाचार सुनकर सब माताएँ छटपटाती हुई उनसे मिलने को जाती हैं—

मातु सबै मिलिबे कहँ आई । ज्यौं सुत को सुरभी सुलवाई ।

इसी प्रकार दशरथ की मृत्यु के उपरान्त निराश्रित, अकेली रानियों के प्रति भरत की यह उक्ति—

मदिर मातु विलोकि अकेली । ज्यो विन वृक्ष विराजति बेली ।।

भावानुकूल ही है ।

पांडित्य-प्रदर्शन—दरबारी कवि के लिए भाव-सौन्दर्य इतना आवश्यक नहीं जितना चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन, अत. यही कारण है कि इस प्रकार के सयमित स्थल हमें बहुत कम मिलते हैं । इसके अतिरिक्त ऐसे स्थल अधिक हैं जहाँ हृदय के भावों की ओर ध्यान न रखकर केवल ऊपरी अलकार-वर्णन की ओर ही ध्यान दिया जाता है । सीता अग्नि में प्रवेश करती हैं, ऐसे समय कवि का ध्यान इस ओर नहीं जाता कि उनके तथा अन्य व्यक्तियों के हृदय में उनके प्रति क्या भाव उठ रहे हैं, किन्तु वे तुरन्त उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं—

महादेव के नेत्र की पुत्तिका सी,
कि संग्राम की भूमि में चंडिका सी।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है,
किधौं रागनी राग पूरे रची है॥

इसी प्रकार लंका-दहन के समय जब सब रानियाँ इधर-उधर दौड़ती हैं और ऐसे समय वस्त्र के जल जाने से मंदोदरी के उरोज कंचुकी रहित हो जाते हैं तो हमारे रसिक कवि केशवदास कहते हैं—

'वसीकर्न के चूर्न संपूर्न पूरे।'

समझ में नहीं आता कि आग में जलती हुई स्त्री को देखकर करुणा के स्थान पर शृङ्गारी भावना का संचार आप कैसे कर देते हैं!

कभी-कभी तो केशव को उत्प्रेक्षा-उपमा की ऐसी धुन चढ़ जाती है कि वे ऊट-पटांग सब कुछ कह देते हैं। अग्नि में राक्षस जल रहे हैं और केशव उत्प्रेक्षा करते हैं—

कहूँ रैनचारी गवे ज्योति गाढे। मनो ईस रोसाग्नि में काम डाढे॥

कहाँ राक्षस और कहाँ काम परन्तु कवि अपनी उत्प्रेक्षा पर मस्त है। केशव की सबसे अधिक सफलता संवादों में हुई है। दरबारी कवि होने के कारण उनके संवादों में चातुर्य, लाघवता आदि गुणों का समावेश हो गया है। ऐसे स्थलों पर काव्य का स्तर काफी उठ गया है। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर हुई है। राजनीति के दाँव-पेंच दिखाने के लिए भी इनमें पर्याप्त अवकाश रहता है। रावण-अंगद-संवाद की इन पंक्तियों में—

लंक नायक को? विभीषण देव दूषण को दहै।
मोहि जीवत होहि क्यो? जग तोहि जीवत क्यो कहै॥

संवादोचित सभी गुण आ जाते हैं।

केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। कठिन काव्य से

तात्पर्य उनकी क्लिष्ट भाषा से है। परन्तु उनकी कविता पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी भाषा उतनी कठिन नहीं जितनी समझी जाती है—इसके विपरीत उसमें हमें इस प्रकार के उदाहरण भी मिल जाते हैं—

कहि केशव याचक के अरि चपक शोक अशोक भये हरि कै।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीक्षण जानि तजे डरि कै॥
सुनि साधु तुम्हैं हम बूझन आए रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोध कहौ करुनामय हे करुणा करुणा करि कै॥

इसमें भाषा की सरलता, स्पष्टता और स्वच्छता सभी कुछ है और साथ भाव-गभीरता भी है परन्तु भाव-गभीरता के ऐसे उदाहरण कम हैं। अत पाठक जब शब्द-जाल को पार कर भाव-भूमि तक पहुँचता है तो उसे हताश होना पड़ता है। यही उनकी क्लिष्टता का मुख्य कारण है।

जैसाकि आचार्य शुक्ल ने भी कहा है—"केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की-सी सरलता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यागों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला।" वस्तुत वे प्रबन्धकार नहीं थे—उनकी प्रतिभा भी मुक्तककार की ही थी। रामचन्द्रिका की असफलता का यही कारण था। उनके सम्मुख प्रेम का यह आदर्श था—

आजु यासो हँसि खेलि बोलि चालि लेहु लाल,
कालिह एक बाल ल्याऊं काम की कुमारी सी।

इस आदर्श के होते हुए भी उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित पर लेखनी चलाने का दु सहास कैसे किया! जैसाकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी मत है कि जन-समाज में प्रचलित यह दोहा—

केसव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चद्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाँहि॥

केशव की मनोवृत्ति का परिचायक है।

कविप्रिया—केशव को अपनी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर बड़ा मान था। 'कविप्रिया' को वह 'कवि का जीवन-प्राण' मानते थे और 'रसिकप्रिया' से अनभिज्ञ भाषा-कवि को हीन समझते थे। 'कविप्रिया' लिखने का उनका उद्देश्य था—बाला और बालक को भी सरलतापूर्वक कवि-रहस्य समझाना। वे कहते हैं—

समझैं बाला बालकहु, वर्णन-पन्थ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध।।

इस 'कविप्रिया' में सोलह प्रभाव हैं। ये सोलह प्रभाव मानो कविता-कामिनी के सोलह शृङ्गार के समान हैं। इस ग्रंथ में कविता के शृङ्गार के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता होती है उनका विस्तृत वर्णन पाया जाता है; काव्य की परिभाषा से लेकर रसनिरूपण तक काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी अगो का विवेचन पाया जाता है।

रसिकप्रिया—केशवदास 'रसिकप्रिया' में वर्णित रसरीति के द्वारा स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि कराना चाहते हैं। उनका कथन है—

बाढ़ै रति मति अति परै, जानै सब रस-रीति।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिकप्रिया की प्रीति।।

इस ग्रंथ में भी सोलह प्रभाव हैं। प्रथम प्रभाव में प्रच्छन्नप्रकाश संयोग-वियोग-वर्णन है। द्वितीय में अनुकूल, दक्ष, शठ, धृष्ट—चार प्रकार के नायकों का वर्णन है। तृतीय प्रभाव में स्वकीया-परकीया-भेद-वर्णन है। चतुर्थ प्रभाव में चतुर्विध-दर्शन-वर्णन है। पंचम प्रभाव में राधाकृष्ण चेष्टा-दर्शन-मिलन-वर्णन एव स्थान-वर्णन पाया जाता है। षष्ट प्रभाव में राधाकृष्ण का हाव-भाव-वर्णन और सप्तम में अष्टनायिका-सयोग-शृङ्गार-वर्णन है। इसी प्रकार विप्रलंभ-शृङ्गार पूर्वानुराग-वर्णन, मान-वर्णन, मानमोचन-वर्णन, प्रवास-वर्णन, सखीजन-वर्णन सखीजन-कर्म-वर्णन, नवरस-वर्णन, कवित्ववृत्ति-वर्णन तथा रस-अनरस वर्णन पाया जाता है

कवि केशवदास ने 'प्रवीणराय' को काव्य-शिक्षा देने के लिए कवि-प्रिया की रचना की थी। अतः इस ग्रन्थ को शास्त्रग्रन्थ के रूप में नहीं प्रत्युत शिक्षा-ग्रथ के रूप में देखना चाहिए।

क्या 'कविप्रिया' में क्या 'रसिकप्रिया' में—सर्वत्र केशव की भाषा सुघर और नटीली है, सरस और सलोनी है। किन्तु जहां कहीं केशव ने किसी और की छाया अथवा प्रतीति से काम लिया है वहां धोखा खाया है। जहां वे अलकार के जगल में उतरते और प्रकृति को पोथी के पन्ने से तौलते हैं वहां उनकी भाषा विकट और बीहड़ हो जाती है।

"केशव व्यक्ति के नहीं, जाति के कवि हैं, उनकी रचना में व्यष्टि का विलास नहीं, समष्टि का विधान है।"

बिहारी

परिचय

महापुरुषों में यह एक गुण माना जाता है कि वे अपने विषय में न कुछ कहते हैं और न ही कुछ लिखते हैं। महाकवि भी प्राय: इसी कोटि में आते हैं अत ये भी स्वसम्बन्धी बातो की सदा से उपेक्षा करते आये हैं। सूरदास, तुलसीदास आदि महाकवियो की जीवनी पर कुछ प्रकाश न पड़ने का यही कारण है। यह बात ठीक है कि जनता ने स्वयं उन्हे जीते रहने दिया है परन्तु उनके नाम पर जनता ने जो कथाएँ गढीं वे कहाँ तक वास्तविक हैं, यह नहीं कहा जा सकता। इन जनश्रुतियों के आधार पर और धार्मिकता के कारण ये महाकवि हम तक पहुँच सके हैं; परन्तु ये कब पैदा हुए, इनका कुल क्या था, इन सब बातो में जनता के लिए कोई रस नहीं था, अतः ये महत्त्वपूर्ण तथ्य उन महाकवियों के साथ ही लुप्त हो गये। यही बात महाकवि बिहारीलाल के विषय में भी कही जा सकती है।

बिहारी रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि थे। इनकी रचित सतसई पर कई टीकाएँ लिखी गईं, जिनका एक अलग ही साहित्य निर्मित हो गया है; परन्तु इतनी लोकप्रियता की ओट में बिहारी स्वयमेव ढक गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सरस दोहे पढ़कर जनता स्वयं उन्हें भूल गई और आज जो हमें बिहारी का नाम सुनाई पड़ता है वह केवल टीकाओं के आधार पर ही।

बिहारी का जन्म सं० १६६० के लगभग ग्वालियर के पास बसुवा

गोविन्दपुर गांव में माना जाता है। ये जाति के माथुर चौबे कहे जाते है। इनको जगन्नाथ रत्नाकर प्रभृति विद्वानों ने धौम्यगोत्रीय सिद्ध किया है। मथुरा में पाडेय, तिवारी, ककोर, और घरवारी आदि कई उपजातियाँ होती हैं। इनमें से विहारीलाल जी घरवारी थे। अनुमानत ये १७२० स० तक वर्तमान रहे। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। इनके परिचय के लिए निम्न दोहे दिये जाते हैं—

जन्म लियो द्विजराज कुल,-प्रकट बसे ब्रज आय।
मेरे हरो कलेश सब, केसव केसवराय॥
जनम ग्वालियर जानिये, खण्ड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

इनमें से पहले दोहे में आये 'केसव केसवराय' को लेकर विद्वानों में इस बात की चर्चा चल उठी है कि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवराय थे। जैसाकि प्रसिद्ध है—केशव का सम्बन्ध भी बुन्देलखड से ही रहा। समय की दृष्टि से भी इस प्रकार का सम्बन्ध मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती क्योंकि केशव का समय १६११ है और बिहारी का १६६०। अत दोनों में पिता-पुत्र का सबध माना जा सकता है। क्योंकि ये दोनो ही अत्यन्त प्रसिद्ध कवि थे अत दोनो के विषय में ही तत्कालीन कवियो और साहित्यिकों ने चर्चा की है और किसी ने भी इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह है कि पिता और पुत्र दोनों ही प्रतिभा-सम्पन्न थे अत दोनों की रचनाएं एक-दूसरे से स्वतत्र हो सकती है। काव्य-रचना के लिए केवल प्रतिभा की ही अपेक्षा नहीं, वहां तो अभ्यास की भी आवश्यकता है, अत अभ्यास में अवश्य ही बिहारी को किसी की मत्रणा की आवश्यकता पडी होगी। और यदि वह घर ही मिल जाय तो बाहर जाने की क्या आवश्यकता! ऐसी दशा में बिहारी की कविता पर केशव का प्रभाव पड जाना स्वाभाविक ही है,

जैसाकि सतसई पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है, उस पर केशव का प्रभाव तनिक भी नहीं है। हां, इतना उपर्युक्त दोहे से अवश्य स्पष्ट होता है कि विहारी के पिता का नाम केशवराय था, परन्तु वे केशव 'रामचन्द्रिका' वाले केशव ही थे, यह अविवादित रूप से नहीं कहा जा सकता।

विहारी जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराजा जयसिंह) के दरवार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जब ये जयसिंह के दरवार में पहुँचे तो वह अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने आसक्त थे कि महल से वाहर ही नहीं निकलते थे। इस कारण राज्य का सारा कार्य धरा रह जाता था। सरदारों की सलाह से राजा को इस अवस्था से मुक्त करने के लिए विहारी ने यह दोहा किसी प्रकार भीतर भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सो वँध्यो, आगे कौन हवाल॥

'कान्ता-सम्मित' इस उपदेश ने राजा पर पूर्ण असर किया और वे वाहर आये तथा विहारी को इस प्रकार की सरस रचना करने का आदेश दिया। निम्न दोहे से इस वात की पुष्टि भी हो जाती है—

हुकुम पाइ जयसाहि को हरि राधिकाप्रसाद।
करी विहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥

विहारीलाल प्रकृति से अत्यन्त रसिक व्यक्ति थे, अत. इनकी कविता का विषय प्रेम ही रहा। यद्यपि प्रेम के अतिरिक्त अन्य नीति-सम्बन्धी सूक्तियां भी हमें विहारी-सतसई में उपलव्ध हो जाती है परन्तु उनका मुख्य विषय प्रेम ही था।

यद्यपि प्रेम रीतिकाल के सभी कवियो का विषय रहा है, परन्तु इस क्षेत्र में जितने अधिक विहारी मग्न हुए हैं, उतने अन्य कवि नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। प्रेम अपने-आप में अत्यधिक व्यापक विषय है, प्रेम अर्थात् शृङ्गार; क्योंकि यह स्त्री और पुरुष की रति पर आश्रित है अत इसका क्षेत्र

भी अन्य विषयों से विस्तृत है। वस्तुत कवि जितना ही सूक्ष्मदर्शी होगा उतना ही वह इस क्षेत्र को अधिक दूर तक स्पर्श कर सकता है। इसके वर्णित विषय में प्राय वही बातें आती हैं जो युवक-युवतियाँ नित्य-प्रति ही अपने प्रेममय जीवन में अनुभव करते हैं, परन्तु कवि की सफलता ऐसी-ऐसी छोटी बातो को ही चमत्कृत ढग से पाठको के सम्मुख रखने में है। कितने ही ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्होंने मुग्धा स्त्रियों को लाज और मनोज के हिडोले पर झूलते देखा होगा, परन्तु इस छोटी-सी बात पर ध्यान बहुत कम गया है। विहारी ने इसी बात को इस दोहे में कहा है—

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुडावति करु, इँची आगे आवति जाति॥

काव्य-सौष्ठव—इनकी कृतियों में काव्य-सौष्ठव चमत्कारपूर्ण है। विहारी की सफलता मुख्यतया दो बातों पर ही निर्भर है—सूक्ष्म पकड और अभिव्यजनाशैली। इनके दोहों में अप्रस्तुत-योजना उनकी सूक्ष्म पकड की ओर सकेत करती है। दो वस्तुओं में समानता को लक्ष्य करके ही सफल अप्रस्तुत-योजना की जा सकती है। जो व्यक्ति इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न नहीं है वह बात अवश्य कह देगा परन्तु उसकी बात इतनी हृदयस्पर्शी नहीं हो सकती। कामिनी का ससार-सागर से तरने में बाधक होना कई कवियो ने कहा है। कबीर ने कहा है—

चलन चलन सब कोइ कहै बिरला पहुँचै कोय।
इक कचन अरु कामिनी दुरलभ घाटी दोय॥

परन्तु यह काव्य नहीं, क्योंकि यह चित्त को चमत्कृत न कर सकने के कारण "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसी बात को विहारी से—

या भव पारावार को उलँघि पार को जाय।
तिय-छबि छाया ग्राहनी, गहै बीच ही आय॥

सुनकर पाठक का मन प्रफुल्लित हो उठता है। यह वास्तविक सत्य है परन्तु ऐसे ढग से अप्रस्तुत के आधार पर प्रस्तुत किया गया है कि पाठक के मन को प्रसादित करने के साथ-ही-साथ उसे वास्तविकता की ओर भी आकर्षित करता है। इसके विपरीत कबीर की ऊपर उद्धृत उक्ति केवल उपदेशात्मक ही है, उसमें मन को रंजित करने की शक्ति तनिक भी नहीं, अतः कम प्रभावपूर्ण है। इसी प्रकार बिहारी के निम्न दोहे में भी प्रस्तुत-योजना की सूक्ष्मता दर्शनीय है—

चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी सांवरी नागिनि लौं डस जाइ॥

यहाँ मुख्यतया साम्य डसने के उपरान्त अनुभूत वेदना है। इस वेदना के मुख्य साम्य के आधार पर डसने के प्रकार मे भी समता है। कवि ने अपनी सूक्ष्म ग्राहिका शक्ति के आधार पर इस बात की स्वय कल्पना की है, परंतु वास्तविक चमत्कार वेदना की समानता में ही है। नारी से डसे (आकृष्ट) पुरुष और नागिन से डसे पुरुष में वेदना की टीस समान रूप में ही अनुभूत होती है। इस प्रकार के अनेको सुन्दर तथा मार्मिक उदाहरण हमें 'बिहारी-सतसई' में सहज ही मिल सकते हैं।

काव्यशैली—अपने भावो या यों कहना चाहिए अपने प्रधान विषय प्रेम की अभिव्यजना के लिए कवि ने पुस्तक की दोहा-पद्धति स्वीकार की है। यह शैली बिहारी से पूर्व भी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में प्रचलित थी। अतः बिहारी को इस शैली के अपनाने में सुविधा ही रही। हाल की गाथासप्तशती, गोवर्धन की आर्या-सप्तशती आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनका विषय भी प्रेम ही है। अतः कवि ने जहां एक ओर इनकी शैली अपनाई वहां दूसरी ओर इनका पूर्णतया अध्ययन करके भावो को भी ग्रहण किया। परन्तु भाव-ग्रहण का तात्पर्य यह नहीं है कि उनके भावों को

ज्यों-का-त्यों अनूदित कर दिया गया हो। वस्तुतः विहारी ने भावों को अवश्य लिया है परन्तु अपनी अनुभूति की कसौटी पर कसकर ही। इस कारण जब उन्होंने उसे (भाव को) अपने काव्य में स्थान दिया तो वह उन्हीं की ही वस्तु प्रतीत हुई, अनूदित नहीं।

उदाहरण के लिए पहले उद्धृत 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाला दोहा गाथासप्तशती के इस श्लोक की छाया पर निर्मित है—

जावरण कोसविकास पावइ ईतीस मालईकलिग्रा।
मग्ररन्दय गालोहिल्ल भमर तावच्चिग्र मलेसि॥

इस उदाहरण से विहारी की अभिव्यंजना-शैली की दो बातें स्पष्ट होती हैं (१) एक ही शब्द द्वारा पूर्ण भाव को बताने की चेष्टा और (२) उनके दोहों में अभिधा की अपेक्षा व्यंजना की प्रधानता।

दोहा-पद्धति को स्वीकार करने के कारण विहारी को समास-पद्धति का अनुसरण करना पड़ा। वस्तुतः दोहे में दो ही पंक्तियाँ होती हैं जिनमें सब कुछ कह देना होता है क्योंकि मुक्तक होने के कारण दो दोहों में परस्पर सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। इस कारण कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनका आकार छोटा और अर्थ बड़ा हो। दोहे की इसी विशेषता को रहीम ने इस प्रकार समझाया है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट-कुंडली, सिमिट कूदि चलि जाहिं॥

वस्तुतः जिस प्रकार आभूषण में रत्न यत्नपूर्वक बिठाये जाते हैं उसी प्रकार दोहे में शब्द भी। विहारी के इस दोहे—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सब बात॥

की ऊपर की पंक्ति के प्रत्येक शब्द में एक-एक पूरा वाक्य समाविष्ट है। इस प्रकार की योजना भी सूक्ष्म दृष्टि के कारण ही सम्भव है।

दोहे की अन्य विशेषता, जो उसकी समास-पद्धति को पुष्ट करती है, साङ्ग रूपकों का निर्वाह है। इन रूपकों के आधार पर कवि ने छोटे-से दोहे में ही अभीष्ट प्रसंग को रख देने की चेष्टा की है। अभीष्ट वस्तु-कथन के साथ-ही-साथ उनमें सरसता और चमत्कार आदि भी आ गये हैं। निद्रा न आने का यह वर्णन—

नीद पुरानी ग्रेहनी राति न आई हाय।
चिंता नव-वधु देखि कै झाँकि झाँकि चलि जाय।।

कितना सुन्दर है! यदि रूपक के विना ही यह कह दिया जाता कि चिंता के कारण नींद नहीं आई तो उसमें काव्य-रस कभी भी न आ पाता। इसी प्रकार समीर का यह वर्णन भी है—

रनित-भृङ्ग घटावली, झरित दान मधु-नीर।
मद मद आवत चल्यो, कुजरु कुज समीर।।

दूसरी वस्तु है व्यंजना-शक्ति। शृङ्गार के विषय में सभी बातें स्पष्ट रूप से कभी नहीं कही जा सकतीं। यदि ऐसा किया जाय तो सहृदय उसे कभी भी पसन्द न करें। बिहारी इस शक्ति के प्रयोग मे पूर्ण निष्णात हैं। नायिका अपने प्रिय से समागम के विषय में कहना चाहती है परन्तु सबके सम्मुख कैसे कहे। अत. कह देती है—

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलिपुज।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलत मालती-कुज।।

ऊपर से यह साधारण-सा दोहा प्रतीत होता है। परन्तु इसी साधारण शब्दों वाले दोहे के द्वारा नायिका ने समय, स्थान और प्रयोजन तीनों बातें एक ही साथ कह दी हैं। इसी प्रकार इस दोहे—

सायक-सम मायक नयन रँगे त्रिविध रँग-गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।

में एक दूतिका अपनी नायिका से नायक को मिलने के लिए सकेत करती

है । इसमें 'झखो विलखि दुरि जात जल' से स्पष्ट है कि नायिका सरोवर के किनारे बैठी होगी और समय जब कि 'जलजात लजात' अर्थात् सूर्यास्त होगा । इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि नायिका अपनी साधारण सखियो के साथ बैठी होती है और उसकी अन्तरग सखी जब आकर सुनाती है—

लग्यौ सुमनु ह्वै है सुफलु, आतप रोस निवारि ।
वारी, वारी आपनी सींचि सुहृदता बारि ।।

यहाँ इस दोहे के दो अर्थ हैं, एक नायिका के लिए और दूसरा सखियों के लिए । इस प्रकार विहारी की व्यजना-शक्ति के प्रयोग के अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं । इस व्यजना-शक्ति ने ही विहारी के कला-पक्ष में वाग्वैदग्ध्य भर दिया है ।

विहारी की लोकप्रियता का अन्य कारण शब्दों का उपयुक्त चयन है । कवि ने अर्थ के अनुसार ही शब्दों का चयन किया है । प्राय. सभी जानते हैं कि नमक से प्यास बढती है । अत कवि ने निम्न दोहे में 'सलोने' शब्द का ऐसा प्रयोग किया है कि वह दोनों ओर उचित अर्थ दे सके —

त्यों त्यो प्यासेई रहत, ज्यो ज्यो पियत अघाइ ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ।।

शब्द-चयन की यही निपुणता विहारी ने अपनी चित्र-कला में भी दिखाई है । कवि ने शब्दों के द्वारा ही चित्र आँकने का सफल प्रयत्न किया है । जब पाठक यह दोहा पढ़ता है—

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए शीश पट टारि ।
काको मन बाँधे न यह, जूरा बाँधनहारि ।।

तो उसके सम्मुख 'जूरा बाँधनहारि' नारी का चित्र उपस्थित हो जाता है । इसी प्रकार यह दोहा भी—

कजनयनि मजन किए वैठी ब्यौरति वार।
कच अंगुरिन विच दीठि दै चितवनि नन्दकुमार ॥

क्रिया-विदग्धा नायिका का चित्र उपस्थित करता है।

आरम्भ में ही कहा गया है कि विहारी का मुख्य विषय प्रेम है। अत. इस भाव की अभिव्यंजना में इसके आलवन का चित्रण और भाव के आश्रय की चेष्टाओं का वर्णन 'विहारी-सतसई' में पर्याप्त हुआ है। कवि ने रूप-वर्णन में नायिका के ही रूप-वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। नायक का रूप-वर्णन केवल इस मगलाचरण (यदि इसे मगलाचरण माना जाय) के दोहे में ही मिलता है—

सीसमुकुट कटि काछनी कर मुरली उर-माल।
इहि वानक मो मन सदा वसो विहारीलाल ॥

इसके अतिरिक्त नायक के रूप-वर्णन का कोई दोहा ढूंढे ही शायद मिले। किन्तु नायिका के नख से शिख तक के विभिन्न अगो का वर्णन हमें यथेष्ट रूप में मिल जाता है। उदाहरण में भौंह के वर्णन का यह दोहा लिया जा सकता है—

खौरि पनिच, भृकुटी-धनुप, वधिकु-समरु तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग, तिलक-सर सुरक-भाल भरि तानि ॥

अनुभाव विभाव संचारी भाव—जहाँ तक आश्रय की चेष्टाओं का वर्णन है, उसमें नायक और नायिका का वर्णन समान है। विहारी ने चेष्टाओं—हावों, अनुभावो, मुद्राओ और कार्य-व्यापारो का अच्छा वर्णन किया है। नायिका कृष्ण से वात करना चाहती है अतः वह कृष्ण की मुरली छिपा लेती है। मांगने पर सौंह करती है परन्तु इस आशका से कि कहीं कृष्ण वापस न चले जायें भौंह में ही हँसने लगती है, अर्थात् वह यह सूचना दे देती है कि मुरली मेरे पास ही है। जव वे मांगते हैं तो देती नहीं। इस सम्पूर्ण हाव-युक्त चेष्टाओ का कवि ने छोटे-से दोहे में

कितने सुन्दर ढग से वर्णन किया है—

वतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनि हँसै, देन कहै नट जाइ॥

इसी प्रकार विव्वोक हाव के लिए हम यह उदाहरण ले सकते हैं—

रही, गुही बेनी लखे, गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे, नीठि सुखाए वार॥

परन्तु इन चेष्टाओं के वर्णन में विहारी की यह विशेषता है कि उन्होंने शास्त्र-ग्रन्थों का सहारा नहीं लिया। उनका यह वर्णन उनकी स्वतन्त्र पर्यवेक्षण-शक्ति का ही परिचायक है। ये चेष्टाएं अथवा अनुभाव भावों और रस के अनुकूल ही हैं। कहीं-कहीं रस के लिए केवल अनुभावों का ही कथन किया गया है। 'कहत, नटत, रीझत, खिझत' वाला दोहा इसी प्रकार का है। मुक्तक में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—तीनो का साथ रहना आवश्यक नहीं। एक के रहने पर ही अन्य का आक्षेप कर लिया जाता है।

ध्वनि—विहारी में भाव-व्यजना रस-व्यजना के साथ-ही-साथ वस्तु-व्यजना और अलकार-व्यजना के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। वस्तु-व्यजना में शोभा या कान्ति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन हैं। कहीं-कहीं इनकी वस्तुव्यजना औचित्य की सीमा को भी लांघ गई है। यह प्राय विरह-वर्णन में हुआ है। जहाँ नायिका उसास के साथ ही छ-सात पग आगे बढ जाती है और स्वास के साथ छ-सात पग पीछे हट जाती है—इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो जाडे की ऋतु में भी लूएँ चलवा दी गई हैं। यह सब फारसी काव्य की ऊहात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव है। विरह-वर्णन में ही नहीं, रूप-वर्णन के इस दोहे—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥

में अत्युक्ति ही है ।

अलंकार-व्यंजना के उदाहरण भी बिहारी-सतसई मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं । किसी-किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पडे हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है । 'असगति' और 'विरोधाभास' की मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियां कितनी अनूठी हैं—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति ।।
तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रग ।
अनबूडे बूडे, तिरे जे बूड़े सब अग ।।

परन्तु जहाँ कवि केवल चमत्कार के लिए ही अलकारों का प्रयोग करता है वहाँ अवश्य ही अस्वाभाविकता आ गई है । जैसे 'उरवसी' पर किया गया यह 'यमक' का उदाहरण—

तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान ।
तू मोहन के उर वसी ह्वै उरवसी समान ।।

जैसे पहले कहा गया है कि बिहारी का मुख्य विषय प्रेम ही था—परन्तु प्रेम के ही साथ-साथ अन्य विषयो का समावेश भी उनकी रचना में हुआ है । भक्ति-विषयक कई दोहे भी हमें दीख पडते हैं । उनका यह दोहा—

हरि की जति विनती यहै तुमसौं वार हजार ।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यो रह्यौ पर्‌यो रहौं दरबार ।।

उनकी दीनता सूचित करता है । इसके अतिरिक्त बिहारी के कुछ दोहे ऐसे भी हैं, जिनका उन्होने केवल अप्रस्तुत-योजना की दृष्टि से निर्गुण आदि का उल्लेख किया है—

दूरि भजत प्रभु दीठि दै गुन-विस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुण निकट रहि चग-रग भूपाल ।।

फिर भी भक्ति-सम्बन्धी कई दोहे हैं।

शास्त्र-ज्ञान—कई दोहे बिहारी के ज्योतिष, गणित, वैद्यक आदि गुणों के सूचक हैं।

भाषा—बिहारी की भाषा, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है, चलती होने पर भी साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें स्थान-स्थान पर पूर्वी-प्रयोग, बुन्देलखण्डी प्रयोग मिल जाते हैं। पूर्वी प्रयोगों में 'जेहि, केहि, लीन, दीन, कीन, किय, लजियात' आदि शब्दों का प्रयोग दर्शनीय है। स्यों, हौं आदि का प्रयोग बुन्देलखण्डी ढर्रे पर हुआ है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों की तोड़-मरोड़ बहुत मिलती है परन्तु बिहारी की भाषा इस दोष से प्राय. मुक्त है। बिहारी ने अनुप्रास की योजना द्वारा भाषा में अनुरणन लाने का प्रयत्न किया है। 'रनित-भृङ्ग-घटावली' वाला दोहा इसी प्रकार का है। भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए कवि ने श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। कृष्ण और राधा के विषय में कही गई सखी की इस परिहासोक्ति—

> चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
> को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

में श्लिष्ट शब्दों का ही प्रयोग है। स्थान-स्थान पर कवि ने छोटे-छोटे समासों का भी प्रयोग किया है।

बिहारी ने अपनी रचना लक्षण-ग्रन्थ के रूप में नहीं की है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रचना करते समय उन्हें लक्षणों का ध्यान अवश्य रहा होगा। यही कारण है कि उनके नायिकाओं के वर्णन में प्राय सभी प्रकार की नायिकाएं आ जाती हैं। यही बात उनके 'नखशिख-वर्णन' और 'षड्-ऋतु-वर्णन' के बारे में कही जा सकती है और कई टीकाकारों ने उनके दोहों को इसी क्रम में रखने की भी चेष्टा की है।

विहारी की कृति का जो अत्यधिक मूल्य आँका गया है वह जैसा कि आचार्य शुक्ल ने भी कहा है, रचना की वारीकी और काव्यांगो के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता के कारण ही है। विहारी का विषय भी प्रेम होने के कारण लोगो की प्रियता का कारण हुआ। वस्तुतः विहारी प्रेम का वहुत उत्कृष्ट और उदात्त रूप नहीं दे सके और कहीं-कहीं तो वह वहुत नीचे पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए इस दोहे में—

लरिका लैवे के मिसनु लगर मो ढिग आई,
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाई।

फिर भी मुक्तक की दृष्टि से उनकी रचना में उसका पूर्ण उत्कर्ष मिलता है और जहाँ कवि ने कुछ सहृदयता से काम लिया वे दोहे साहित्य में वहुत उत्कृष्ट कोटि के दोहों में परिगणित होते है। स्मरण का यह उदाहरण आज प्राय' सहृदयो के मुंह से वार-वार सुना जाता है—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मद समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर॥

भूषण

परिचय

तिकवाँपुर-निवासी रतिनाथ उपनाम 'रत्नाकर' के पुत्र मतिराम, चिंतामणि और जटाशंकर के भाई हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वीरकवि भूषण का जन्म-काल अद्यावधि अनिर्णीत ही रहा है। कुछ विद्वानों ने शिवसिंह-सरोज के जीवनवृत्त में कहे गये सं० १७३८ को उत्पत्तिकाल समझकर भूषण का जन्म इसी सं० १७३८ में माना। दूसरे विद्वानों ने इसके विपरीत भूषण का जन्म सं० १६७० या सं० १६९२ माना है। वास्तव में ये दोनों ही पक्ष अयुक्त हैं, क्योंकि सं० १७३८ में जन्म मान लेने पर भूषण का शिवाजी के दरबार में रहना असिद्ध हो जायगा। (सं० १७३८ में ही शिवाजी का देहावसान हुआ था।) इसी आधार पर इस पक्ष के समर्थकों ने भूषण को शिवाजी का दरबारी कवि न मानकर उनके पौत्र साहूजी का दरबारी कवि माना है पर दृढ़तर अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर भूषण की शिवाजी के समय में वर्तमानता सिद्ध होती है। जैसे कि—

(क) तुही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान।

(ख) आज गरीब निवाज मही पर तो सो तुही शिवराज बिराजै।

(ग) आयो आयो सुनत ही शिव सरजा तुव नाम।
वैरी नारि दृगजलनि सो बूडि जात सब ग्राम॥

इन पदों में स्पष्ट रूप से शिवाजी को वर्तमानकालिक कहा गया है ग्रन्थारम्भ में भी कवि भगवती से प्रार्थना करता है—

सरजा समत्थ शिवराज कहि देहि विजय जय जगजननी।

यदि शिवाजी भूषण से पहले ही स्वर्ग सिधार गये होते तो भगवती से इस प्रार्थना की कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती कि हे भगवती, आप शिवाजी महाराज को विजय दीजिए । किसी की विजय की प्रार्थना उसकी जीवनावस्था में ही हो सकती है । रायगढ के वर्णन मे भी कवि ने शिवाजी के लिए वर्तमान का ही प्रयोग किया है । इस प्रकार यह निश्चित है कि भूषण शिवाजी के समय में विद्यमान थे । और उन्होंने सं० १७३७ में शिवराज-भूषण ग्रन्थ की रचना कर डाली थी। फलत उनका जन्म सं० १७३८ में नहीं प्रत्युत उससे पूर्व ही माना जाना चाहिए। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उनका जन्म कब हुआ । भूषण का जन्मकाल निश्चित करने के लिए एक दृढ सूत्र प्राप्त हो गया है। श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र सपादित भूषण-ग्रन्थावली की भूमिका में मिश्रजी ने मतिराम के प्रपौत्र प० विहारीलाल द्वारा स० १८७२ में रचित विक्रमसतसई की टीका का उल्लेख किया है । इस टीका में विहारीलाल ने अपने वंश का परिचय भी दिया है । विहारीलाल और उसके पुत्र काशीदत्त आदि स० १८७६ में तीर्थयात्रा के लिए मथुरा गये थे। वहाँ अपने पडे की वही में उन्होंने अपने हाथो से ही अपने वश का परिचय लिखते हुए मतिराम के पिता रतिनाथ से अपने वश का आरम्भ किया। यही रतिनाथ भषण के पिता हैं। क्योकि सं० १८१८ मे लिखित शिवराजभूषण की सबसे प्राचीन प्रति में भूषण के पिता का नाम रतिनाथ ही है—

द्विज कनौज कुल कस्यपी रतिनाथ को कुमार।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा जमुना कठ-सुठार ॥

इससे यह निश्चित हो गया कि मतिराम भूषण के भाई थे।

उक्त दोनो प्रमाणो से यह भी सिद्ध हो जाता है कि भूषण मतिराम आदि चारों भाइयों का जन्म १७१५ से पूर्व कदापि नहीं हो सकता। जो लोग इन त्रिपाठी बन्धुओं को सं० १६७० और १७०० के मध्य उत्पन्न हुआ मानते हैं वे सर्वथा भ्रम मे हैं, क्योकि मतिराम के प्रपौत्र

के पुत्र प० काशीदत्त अपने तीन चचेरे भाइयों, पिता प० बिहारीलाल व चाचाओं के साथ तीर्थयात्रा करने स० १८६६ में मथुरा आये थे।

इस समय प० काशीदत्त की अवस्था तीस-पैंतीस वर्ष की अवश्य होगी, क्योंकि पुराने लोग प्रौढ़ अवस्था में ही प्राय तीर्थ-यात्रा के लिए निकला करते थे। इस प्रकार काशीदत्त का जन्म स० १७३५ के लगभग पड़ता है। इस समय उनके पिता की आयु २५ वर्ष मान लेने पर बिहारीलाल का जन्म स० १८१० में और इसी क्रम से २५ वर्ष के लगभग पुत्रोत्पत्ति मान लेने पर बिहारीलाल के पिता शीतल का जन्म स० १७८५ में, उनके पिता जगन्नाथ का जन्म १७६० मे और उनके पिता मतिराम का जन्म स० १७३५ के लगभग पडता है। पाँच-सात वर्ष का और अतर मान लेने पर भी मतिराम का जन्म सं० १७३० से पूर्व कदापि नहीं पडता। भूषण का जन्म भी इसके आसपास ही है। प्रत्येक भाई की अवस्था में पाच वर्ष का अतर मान लिया जाय तो ५×४=२० वर्ष से अधिक अतर सभव नहीं। इस प्रकार स० १७३०—२०=१७१० से पूर्व भूषण का जन्म कदापि नहीं हो सकता।

उक्त ऐतिहासिक आधार पर कहा जा सकता है कि भूषण का जन्म १७१५ के लगभग हुआ। वे २० वर्ष की अवस्था में शिवाजी के दरबार में स० १७३५ में पहुँचे। शिवाजी की मृत्यु (स० १७३८) से एक वर्ष पूर्व १७३७ में उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवभूषण' की रचना की है। भूषण ने 'छत्रसालदशक' में स० १७५७ में हुए सैयद अफगन के साथ छत्रसाल के युद्ध का वर्णन किया है। साहूजी के भी अनेक ऐसे कार्यों का वर्णन किया है जिनका समय स० १७७० के लगभग है। अत इनका जीवन-काल स० १७१५ से १७७५ तक मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गई हैं, पर उनमें तथ्यांश कितना है यह नहीं कहा जा सकता।

भूषण की रचनाएँ—इनकी १. शिवभूषण या शिवराजभूषण

२. शिवबावनी, ३. छत्रसाल-दशक—ये तीन रचनाएँ प्रकाशित हैं। भूषण-उल्लास, दूषण-उल्लास, भूषण-हजारा नामक अन्य तीन रचनाएँ भी इनकी कही जाती हैं। 'भूषण-उल्लास' नाम से प्रतीत होता है कि यह अलकार-विषयक ग्रन्थ होगा। शिवभूषण में भी अलकारो के लक्षण-उदाहरण हैं, अतः सभव है कि 'शिवभूषण' को ही 'भूषण-उल्लास' कहा गया हो। 'दूषण-उल्लास' में दोषों का वर्णन होगा और 'भूषण-हजारा' में इनकी सब कविताएँ संकलित होगी। 'शिवबावनी' और 'छत्रसाल-दशक फुटकर कविताओं के संकलन हैं। इस प्रकार वर्तमान में उपस्थित 'शिवभूषण' ग्रन्थ तथा कुछ फुटकर छन्द ही भूषण के स्वयं निर्मित कहे जा सकते हैं। भूषण वास्तव में हिन्दी के या हिन्द के एकमात्र सच्चे वीरकवि हैं। उन्होंने अपने काव्य की रचना महाराज शिवाजी के लिए करते हुए भी किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं की। भूषण ने शिवाजी के रूप में महान् राष्ट्ररक्षिणी, दिव्य शक्ति के दर्शन किये और उसी दिव्य शक्ति की महिमा का बखान उन्होने अपनी अपूर्व प्रतिभा के द्वारा किया। घोर विलासिता, दीनता व अधीनता के उस युग में जिस प्रकार शिवाजी इस विलासिता के पंक से ऊपर उठे हुए सच्चे कर्मवीर राष्ट्ररक्षक के रूप में प्रकट होते हैं वैसे ही भूषण भी राष्ट्रकवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। जितने आदर और सम्मान के साथ आज भूषण का नाम लिया जाता है रीतिकाल का ऐसा और कौन कवि है जिसको जनता इतने आदर के साथ स्मरण करती हो। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि यदि रीतिकाल में कोई सच्चा कवि हुआ है तो भूषण ही, क्योंकि इस काल के अन्य सब कविगण या तो अपने आश्रयदाताओ की विलासिता और कामवासना की अग्नि को निज काव्यरूपी पवन से उद्दीप्त करते रहे या अपने पड़ोसी छोटे-मोटे राजाओ से अहर्निश लड़ने-झगड़ने वाले अपने आश्रयदाता जागीरदारो की असत्य और अस्वाभाविक विरुदावलियो के बखान में निरत रहते थे। इस प्रकार इस युग के कलाकार अपने

प्रमुख कर्त्तव्य समाजनिर्माण व राष्ट्रनिर्माण की ओर से सर्वथा विमुख हो रहे थे।

कवियो का एक तीसरा वर्ग भी विद्यमान था, जो भक्त-वर्ग कहलाता है। इस भक्तवर्ग में से भी दो-चार ने ही रामायण और महाभारत के आधार पर प्रेरक काव्यों का सृजन किया। पर ये काव्य भी समुद्र में मधुबूंदों के समान शृङ्गारिक काव्यों की उस बाढ़ में ऐसे निमग्न हुए कि उन काव्यों का न तो उस युग में ही प्रचार हो पाया और न आज ही उन्हें कोई जानता है। शेष सब भक्त-कवि राधा-कृष्ण-लीलाओं के वर्णन में लगे रहे।

इस युग में भूषण के सिवा सूदन और लाल इन दो अन्य वीरकवियों के नाम लिये जाते हैं। लाल का 'छत्रप्रकाश' और सूदन का 'सुजान-चरित्र' काव्य प्रसिद्ध हैं। पर इन दोनों ग्रन्थों को भी 'वीर-काव्य' न कहकर 'वीर-प्रशस्ति' ही कहना अधिक उपयुक्त है। निस्सदेह 'छत्र-प्रकाश' के चरित्र-नायक महाराज छत्रसाल एक बड़े प्रतापी राष्ट्र-रक्षक योद्धा वीर थे। पर उनके सम्बन्ध में लिखे गये 'छत्रसाल-प्रकाश' में छत्रसाल का वास्तविक इतिहास भले ही हो, वीरभावों का वैसा उदात्त स्फुरण नहीं। उन्हीं महाराज छत्रसाल को आधार मानकर लिखी गई भूषण की कुल पाँच-सात कविताओं को पढते-पढते पाठक के हृदय में जिस दिव्य उत्साह का सचार होता है, सहृदय के हृदय-पटल पर शिवा के आतंक का जैसा सजीव चित्र अकित होता है, क्या सारे 'छत्रप्रकाश' ग्रन्थ को पढ़ जाने पर भी हमारे हृदय में वैसा जोश आ सकता है? बात तो यह है कि 'छत्रप्रकाश' और 'सुजान-चरित्र' में इन कवियों की अन्त.प्रेरणा नहीं प्रत्युत कर्त्तव्यपालन की भावना ही लक्षित होती है। इसके विपरीत भूषण की कविता के एक-एक अक्षर से स्वाभाविक उत्साह और उल्लास का उत्स फूट रहा है।

जिस प्रकार भूषण से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व राष्ट्र-निर्माता महाकवि

गोस्वामी जी ने राष्ट्र-रक्षण के लिए कर्मवीर धनुर्धर राम के रूप में दुष्टदलन-कारिणी दिव्य शक्ति का आवाहन किया था और कहा था कि—

कीन्हे प्राकृत जनगुन गाना । सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।।

ठीक उसी प्रकार भूषण ने—

दशरथ जू को राम भो वसुदेव के गुपाल ।
सोई प्रगट्यो साहि के श्री शिवराज भुआल ।।

इसके द्वारा शिवाजी को राम और कृष्ण का रूप बताते हुए आगे उन्हीं के समान उत्पीड़न के अंत का चित्र इस प्रकार अंकित किया है—

उदित होत शिवराज के मुदित भये द्विज देव ।
कलियुग हट्यो मिट्यो सकल म्लेच्छन को अहमेव ।।

अतः सिद्ध हुआ कि भूषण ने किसी राजा-महाराजा या आश्रयदाता की प्रशंसा में एक अक्षर भी नहीं लिखा, उन्होंने तो शिवा के रूप में राम और कृष्ण की दिव्य शक्ति का आवाहन किया है। इसलिए वे—

भूषण यों कलि के कवि राजन राजन के गुन गाय नसानी ।
पुन्य चरित्त सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ।।

के द्वारा गोस्वामी जी के हृदय को ही व्यक्त कर रहे हैं।

उक्त वर्णन से इस विश्वास को आधार मिलता है कि भूषण ने किसी राजा-महाराजा की प्रशंसा में नहीं प्रत्युत राष्ट्ररक्षक दिव्य शक्ति को उद्बुद्ध व उत्साहित करने के लिए ही अपनी काव्य-प्रतिभा का आयोजन किया था। स्मरण रखना चाहिए कि किन्हीं बलवान् योद्धाओं का प्रबल पौरुषिक वर्णन चाहे कितनी ओजस्विनी सरस अलंकृत भाषा में क्यों न हो, यदि उनके चरित्रनायक में लोक-रक्षण की प्रवृत्ति नहीं होगी, समाज व राष्ट्र के साथ उनका कुछ सम्बन्ध न होगा तो उस वैयक्तिक वीरता से वीर रस का संचार नहीं हो सकता, एक आश्चर्यपूर्ण कौतूहल का भाव भले ही जागरित हो जाय। इसके विपरीत किसी विश्वविश्रुत लोक-रक्षक

चरित्रनायक को आलंबन मानकर लिखे गये काव्य में भी कवि का हृदय नहीं बोलता तो वह काव्य भी सामाजिकों में रस-संचार करने में अक्षम ही रहेगा। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि श्री गुरु गोविन्दसिंह जी को छोड़कर भूषण के समकालीन या पूर्ववर्ती सभी वीरकवियों ने वीरगाथा या वीरचरितावली भले ही लिखी हो, सच्ची वीर-रसात्मक कविता लिखने का श्रेय प्राप्त करने में वे असमर्थ ही रहे। मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत के युद्ध-प्रसंगों में सच्चे वीररस का प्रवाह बहने लगता है। चाहे तत्कालीन संकुचित कट्टर साम्प्रदायिकता के कारण उसमें स्थान-स्थान पर अटकाव आ जाते हैं, फिर भी महाराज रत्नसेन के रूप में वीररस के उपयुक्त आश्रय के साथ कवि-हृदय के संपूर्ण सामंजस्य होने से वीर-रसात्मकता को उद्‌बुद्ध करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

गुरु गोविन्द के काव्य के आश्रय दिव्य (रामकृष्ण आदि) होते हुए भी वीररसमय होने के कारण ही उनकी कविताएँ सामाजिकों में उत्साह भाव जागरित करने में समर्थ हैं। राम और कृष्ण के वीरकार्यों का प्रसंग-प्राप्त वर्णन सूर, तुलसी आदि ने भी किया है, पर उनको पढ़-सुनकर हमारे भुजदण्ड वैसे नहीं फड़कने लगते जैसे गुरु गोविन्द-कृत राम और कृष्ण के चरित्र-श्रवण से। कारण यही है कि सूर और तुलसी के हृदय का मेल जैसा भक्ति के साथ बैठता है वैसा वीररस के साथ नहीं। पर गुरु गोविन्द तो थे ही वीरता के अवतार, उनके एक-एक अक्षर में उनका हृदय बोलता था।

किन्तु भूषण और गुरु गोविन्द की भावनाओं में बहुत कुछ तारतम्य लक्षित होता है। हमारे हृदयों में दिव्य चरितों के प्रति श्रद्धा-भक्ति भले ही विशेष हो, किन्तु उनके कार्यों से वैसी वीर-भावनाएँ जागरित नहीं हो सकती जैसे अपने ही युग के अपने ही समाज में रहने वाले ऐतिहासिक वीरचरितों से।

यही कारण है कि शिवा, प्रताप, दुर्गावती, झाँसी की रानी, चन्द्र-

शेखर 'आजाद' और सुभाषबाबू के वीर-चरितों को पढ-सुनकर हमारे हृदय जैसे उत्साह की तरंगो में परिपूरित हो बल्लियो उछलने लगते हैं वैसे दिव्य चरितों से नहीं।

प्राचीन युग में वीर-भावनाओ का सच्चा प्रतिनिधि कवि केवल भूषण को ही कहा जा सकता है। ऐसे राष्ट्रकवि और वीरकवि भूषण के व्यक्तित्व व कवित्व के वैशिष्ट्य पर कुछ विचार कर लेने के पश्चात् अब उनके काव्य-सम्बन्धी अन्य तत्त्वो को लेना उचित होगा। भूषण के काव्य की भाषा, विषय-शैली, वर्णन की विशदता, चरित्र-चित्रण, ऐतिहासिकता आदि अनेक दृष्टियों से समीक्षा की गई है। भूषण की कविता 'परम्परायुक्त' होते हुए भी 'परम्परामुक्त' है। 'शिवभूषण' एक ओर रीति-ग्रन्थों की परम्परा में बैठता है और दूसरी ओर वीर-काव्यो की परम्परा में। काव्यांग-निरूपक होते हुए भी 'शिवभूषण' को हम मात्र रीतिग्रन्थों की कोटि में नहीं रख सकते। लक्षण-ग्रन्थ लिखने का कवि का उद्देश्य नहीं था। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

शिव चरित्र लखि यो भयो कवि भूषन के चित्त।
भाँति भाँति भूषन निसो भूषित करों कवित्त॥

इससे ज्ञात होता है कि भूषण का उद्देश्य शिवाजी के चरित्र को विविध अलंकारों से अलकृत कर दिखलाना था। अतः हमें रीतिग्रन्थ की दृष्टि से 'शिवभूषण' की समीक्षा नहीं करनी है। अलंकारों के लक्षण लिखते हुए भी भूषण ने अपना ही नया मार्ग अपनाया है। हिन्दी के प्रायः सभी रीति-ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-संस्कृत के आचार्यो के पथ पर चलते रहे, पर भूषण ने किसी सम्प्रदाय या ग्रन्थ का आधार न लेकर अपनी समझ से अलंकारों के उपयुक्त लक्षण लिखने का प्रयत्न किया है। सभी रीति-ग्रन्थकारों ने अधिकतर उदाहरण शृङ्गार-रस के दिये हैं, पर भूषण ने सब उदाहरण वीर-रस के और वे भी शिवाजी की जीवन-

घटनाओं से सम्बन्धित दिये। उनकी कविताओं का विषय और उसके प्रतिपादन का ढंग सर्वथा नवीन और मौलिक है। 'भाषा-भूषण', 'यशवन्त-यशोभूषण' आदि 'शिवभूषण' से नाम-साम्य रखने वाले ग्रन्थ भले ही लिखे गये हों पर 'शिव-भूषण' का विषय इन सबसे भिन्न है।

इस प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर तो भूषण भी रीति-ग्रन्थकारों की परम्परा में आवद्ध-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तव में वे उस परम्परा से हट कर अपने मार्ग का स्वयं निर्माण करने वाले मौलिक कलाकार हैं। अपने समय में प्रचलित रीति-ग्रन्थों की विशिष्ट पद्धति वे न छोड़ सके। शिवा-सम्बन्धी सरस कविताओं के बीच-बीच में अलंकार के लक्षणों की गाँठ आ जाने से काव्य-प्रवाह की सरसता में बाधा उपस्थित हो जाती है। गोस्वामीजी की 'बरवै रामायण', 'जानकी मंगल' की अधिकतर कविताएँ भी किसी-न-किसी अलंकार के उदाहरण के रूप में मिलती हैं, पर उन्होंने उन उदाहरणों पर लक्षण न लिखकर काव्य-सौंदर्य को बनाये रखा है। इसी प्रकार भूषण भी यदि सम-सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित न होते और अपना ग्रंथ लक्षणों-उदाहरणों के रूप में न लिखकर मुक्तक या प्रबन्ध काव्य के रूप में ही लिखते तो वह अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता।

गद्य के बिना सम्यक् विवेचन न होने से पद्यात्मक संक्षिप्त लक्षणों वाला कोई भी प्राचीन रीतिग्रन्थ अलंकारों के पढ़ने-पढ़ाने या समझने-समझाने के काम नहीं आ सकता। बीच-बीच में लक्षणों के आ जाने से काव्य-प्रेमी भी निरन्तर 'शिवभूषण' से रस का आस्वाद नहीं ले पाते। यही कारण है कि यह उत्कृष्ट रचना जितनी लोकप्रिय हो जानी चाहिए थी, उतनी न हो पाई। भूषण की कविता के प्रत्येक पद से अपूर्व प्रभावोत्पादकता और सरलता टपक रही है। भूषण की शैली वीर-रस के लिए सर्वथा उपयुक्त है। प्राचीन आचार्य समझते थे कि वीर-रस के लिए टवर्ग-प्रधान, रेफयुक्त, संयुक्त और द्वित्व-वर्णप्रधान परुषावृत्ति होनी चाहिए।

पुराने रासो काव्यो में और पद्माकर की अनेक वीर-रस की कविताओ में इस प्रकार की शैली का खूब प्रयोग हुआ है। भूषण ने भी—

वक्क्करि अति डक्क्करि अस सक्क्करि खल।
सौचच्चकित भरोचच्चलिअ विमोच्चक्खजल ॥

आदि परुषाक्षर-प्रधान 'अमृतध्वनि' छंदो में कुछ कवित्त लिखे हैं।

पर अपवादभूत इन दो-चार कवित्तो के सिवा-भूषण ने ऐसी परुषा-वृत्ति में रचनाएँ नहीं लिखीं। किन्तु इसे हम भूषण की त्रुटि नहीं कह सकते। क्योंकि जिनके पास भावाभिव्यक्ति का अभाव होता है, वे ही शब्दाडम्बर का सहारा लेते हैं।

साजि चतुरग वीररग मे तुरग चढि सरजा शिवाजी जग जीतन चलत हैं।
भूपण भनत नाद विहद नगारन के नदी नद मद गैवरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल मैल खलक में गैल गैल गजन की ठैल पैल सैल उलसत हैं।
तारा सो तरनि घूरि धारा में लगत जिमि धारा पर पारा परिवार यो हलत हैं।।

—आदि कवित्तों को पढ़ते-पढ़ते आँखो के सामने सेनाओ के मार्च का एक चलता-फिरता-सा चित्र अकित हो जाता है, भले ही इनमें परुष वर्णो का सर्वया अभाव ही क्यो न हो। इसलिए कह सकते हैं कि भूषण बँधी-परम्परा के अनुयायी न हो कर स्वच्छंद कवि थे। विषय-निरूपण-पद्धति और शैली के अतिरिक्त उनकी भाषा में भी यह स्वच्छंदता स्पष्ट लक्षित होती है। इसे अनेक समालोचको ने भाषा-सम्बन्धी त्रुटि कहा है। निश्चय ही भूषण ने खड़ीबोली, ब्रजभाषा, अरबी, फारसी और मरहठी के शब्दो के अनेक रूपो को अपनी इच्छानुसार ढाल दिया है। और मुसलमान पात्रो के विषय में ब्रजभाषा के साथ खड़ीबोली का गठबंधन कर दिया है। पर यह भूषण की स्वच्छदता का द्योतक है न कि त्रुटि का। तुकान्त के कारण दो-चार स्थानों पर शब्दो का रूपविशेष विकृत कर दिया गया है, किन्तु यह प्रवृत्ति रीतिकाल के सभी कवियों में समानरूप से विद्य-मान है। भूषण की भाषा मे लोकोक्तियो और मुहाविरो का जैसा सुन्दर

प्रयोग है उससे भावाभिव्यक्ति खूब तीव्र हो गई है। एक उदाहरण देखें—

प्रेतिनी पिसाच निसाचर निसाचरहू
मिलि-मिलि आपसु में गावत वधाई हैं।
भैरो भूतप्रेत भूरिभूधर भयकर से
जुत्थ-जुत्थ जोगिनी जमाति जोरि आई है।
किलकि किलकि कौतूहल करति काली
डिम डिम डमरु दिगवर वजाई है।
सिवा पूछैं सिवसो समाज आजु कहाँ चली
काहू पे सिवा नरेश भृकुटी चढाई है।

यहाँ पर क्या शिवाजी महाराज ने किसी पर भौंह चढ़ाई है ? इस मुहाविरे ने जो चमत्कार उत्पन्न किया है वह सहृदयों से छिपा नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ-जहाँ लोकोक्तियों और मुहाविरो का प्रयोग हुआ है वह बडा ही प्रभावोत्पादक है। भूषण की रचनाओं में युद्धवीर की तो सुन्दर अभिव्यक्ति हुई ही है, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर आदि वीर-रस के अन्य अनेक रूपों का भी स्वाभाविक वर्णन है। पूर्वोक्त 'साजि चतुरग' आदि पद में सेना का उत्साह-भाव दर्शनीय है।

छूटत कमान वान वदूकरु कोक वान
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट में।
ताही समैं सिवराजहुकुम के हल्ला कियो
दावा बाँधि द्वेषन पै वीरन लैं जोट में।
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौ कहौं
किम्मति इहाँ लगि है जाकि भट जोट में।
ताव दे मूछन कँगूरन पै पाँय दै दै
घाव दै दै अरि मुख कूदै परैं कोट में॥

आदि अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

वीर-रस के परिपाक के लिए, प्रतिपक्षियों पर आतंक का वर्णन

भी किया जाता है। इस आतंक-वर्णन में भूषण अपने उपमान आप हैं। इस प्रकार के आतंक-वर्णन को, अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी, अस्वाभाविक नहीं कह सकते। शिवाजी की छापामार नीति के कारण उनके प्रतिपक्षियो पर वास्तव में ऐसा ही आतक जमा हुआ था। प्रतिनायक जितना समर्थ और शक्तिशाली होगा नायक की वीरता उतनी ही अधिक विकसित होगी। इसलिए नायक के साथ प्रतिनायक के शौर्य और सामर्थ्य का चित्रण भी आवश्यक है। भूषण के नायक शिवाजी का प्रतिद्वन्द्वी भी कोई छोटा-मोटा नहीं, स्वय सम्राट् औरंगजेब है। औरगजेब का प्रभाव भी—

जिन फन फूतकार उडत पहार भार
 कूरम कठिन जनु कमल विदलि गो।
विपजाल ज्वालामुखि लवलीन होत जिन
 झारन चिकारिमद दिग्गज उगलि गो॥
कीन्हो जेहि पान पयपान सो जहान कुल
 कोलहू उछलि जल सिन्धु खल भलि गो।
खग्गखग्गराज महाराज शिवराज को
 अखिल भुजग मुगलद्दल निगलि गो॥

आदि कवित्तो में दर्शनीय बन पड़ा। अपने आतंक से चराचर मात्र को कँपा देने वाले साक्षात् अन्तक रूप औरंगजेब के बड़े-बड़े अनेक देश-विदेश जीत लेने वाले सेनापति भी शिवाजी से किस प्रकार भयभीत हैं, देखिए—

पूरब से उत्तर के प्रबल पछाहू के,
 सब पात साहन के गढ कोटि हरते।
भूपन कहै अवरग सो उजीर जीति
 लेवे को पुरतगाल सागर उतरते॥

सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज,
हजरत हम मरिवे को नाहिं डरते ।
चाकर हैं उजर कियो न जाय नेक पै,
कुछ दिन उबरते तौ घन काम करते ।।

औरंगज़ेब के सेनापति उसे कहते हैं कि आपके हुक्म से दुनिया-भर के देशों पर चढ़ाई करने के लिए जा सकते हैं पर आप हमें शिवाजी से भिड़ने के लिए भेज रहे हैं, आप ऐसा न समझ बैठें कि हम कोई मरने से डरते हैं, जो वहाँ नहीं जाना चाहते । वास्तव में बात यह है कि यदि कुछ दिन और जीते रहते तो हम आपके बहुत से काम कर जाते ।

यह है औरंगज़ेब के सेनापतियों के हृदय पर जमा हुआ शिवाजी का आतंक । इस प्रकार कलापक्ष और भावपक्ष दोनों दृष्टियों से भूषण की रचना परम प्रौढ़ सिद्ध होती है । उपर्युक्त सभी पदों में भाव-सौंदर्य और भाषा-सौंदर्य एक दूसरे के साथ गठबंधन-से हुए प्रतीत होते हैं ।

सन् १९३० के लगभग औरंगज़ेब की निन्दा के कुछ पदों के कारण भूषण को हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का विरोधी बताकर उन्हें 'अराष्ट्रीय' कहने का साहस किया गया था, पर स्मरण रखना चाहिए कि किसी अत्याचारी के उत्पीड़न की भर्त्सना के कारण किसी को अराष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता । भूषण की कविताओं में मुसलमान होने के कारण न किसी की निन्दा की गई है और न हिन्दू होने के कारण प्रशंसा ही ।

बब्बर के तब्बर हुमायूं हद्द बांधि गये
दो में एक करी ना कुरान वेद ढब को ।

आदि अनेक पदों में भूषण ने उन मुग़ल सम्राटों की प्रशंसा की है, जो प्रजापीड़क नहीं थे । हिन्दुओं की तात्कालिक दुर्दशा का कारण भी वे उनकी पारस्परिक फूट को ही मानते थे । जैसे कि—

आपस की फूट ही तें सब हिन्दुआन टूटे ।

भूषण के सिवा किसी अन्य कवि ने राष्ट्र का नाश करने वाली हिन्दुओं की इस फूट की ओर ध्यान नहीं दिया। वह केवल राष्ट्रकवि भूषण ही था जिसने सर्वप्रथम अपने काव्य में देश की दुर्दशा का वास्तविक कारण बताया। इसलिए भूषण की कविता को किसी प्रकार भी राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं कहा जा सकता। भूषण की कविता वास्तव में सर्वाधिक राष्ट्रीय भावनाओं से समन्वित है। शिवाजी के अतिरिक्त महाराज छत्रसाल, शाहूजी, मेवाड़ के महाराणा राजसिंह आदि जितने भी अत्याचार के विरुद्ध लड़ने वाले भूषण के समसामयिक वीर थे, उनकी देशभक्ति की भावनाओं को विकसित करने के लिए भी भूषण ने ओजस्वी कविताएं लिखी हैं।

केतकी भी राना और वेला सब राजा भये
ठौर ठौर रस लेत नित यह काज है।

आदि कविताओं में यदि शिवाजी को चम्पा बताया गया है तो उदयपुर के महाराणा राजसिंह को भी 'केवड़ा' कहा गया है। इन दोनों पुष्पों पर भौंरा नहीं फटकता। केवड़े के पास यदि कहीं चला भी जाय तो वह अपने पख कटवा कर ही आता है। औरंगजेब ने राजसिंह पर आक्रमण तो कर दिया था पर वह वहां से मुंह की खाकर ही लौटा। इस प्रकार राणा को केवड़ा कहना सर्वथा सार्थक है। ऐतिहासिक घटनाओं का तथ्य वर्णन भूषण के काव्य की एक बड़ी विशेषता है। आतंक-चित्रण अतिरिक्त अतिशयोक्ति के नाम पर भी भूषण ने कहीं इतिहास की -मोड़ नहीं की। भूषण की कविताओं में एक-से-एक सुन्दर अलंकारों रहना तो स्वाभाविक ही है, इनमें वीर, रौद्र, भयानक रसों के अति-न करुण और अद्भुत रस भी यथास्थान लक्षित होते हैं। समयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर भूषण ने शृङ्गार-रस की भी फुटकर कविताएं लिखीं। उनका दृश्य-विधान भी अपने समकक्ष ी कवि से कम नहीं। 'अंभ्कासी भई' आदि पूर्वोक्त पद्य में सेना के

आगमन तथा उनके कारण शत्रु-हृदयों पर आतंक का पूरा संश्लिष्ट चित्र अंकित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों ने यदि भारतीय संस्कृति के प्राण राम और कृष्ण की महिमा का बखान कर देश में प्राचीन आर्य-भावों को प्रचारित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया तो भूषण ने उस भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ वीर प्रहरी शिवा का यशोगान कर धर्म-रक्षा के लिए उत्साहित किया। तुलसी ने अपने ढंग से राष्ट्रनिर्माण में सहयोग दिया तो भूषण ने अपने ढंग से। गोस्वामी जी ने भावनाओं को जागरित किया तो भूषण ने कर्म को। भले ही परिमाण की दृष्टि से भूषण की कविताएँ स्वल्प हों, पर अपने प्रभविष्णु उद्देश्य की दृष्टि से भूषण की राष्ट्रीयभावोत्पादक ओजस्विनी कविताएँ हिन्दी-साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती हैं। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी जी के पश्चात् सच्चा राष्ट्ररक्षक कवि केवल भूषण ही को कह सकते हैं।

देव

परिचय

रीतिकाल के शृङ्गारिक कवियो में प्रमुख स्थान प्राप्त करने वाले महाकवि देवदत्त या देव का जीवनवृत्त प्रामाणिक रूप में प्राप्त नहीं हो सका। इधर-उधर से अन्तरंग और बहिरग साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि देव का जन्म सं० १७३० या ३१ में हुआ होगा, क्योंकि अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाव-विलास' के अन्त में उसका रचनाकाल और अपनी आयु का उल्लेख करते हुए देव ने निम्न दोहा लिखा है—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढत सोरही वर्ष।
कढी देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥

इस दोहे से ज्ञात होता है कि सं० १७४६ में १६वें वर्ष में देव ने भाव-विलास की रचना की है। अतः उनका जन्म स० १७३० के लगभग ही पड़ता है। शिवसिंहसरोज में देव के लिए जो सं० १७६१ उ० लिखा गया है, वह भूषण के समान ही उपस्थित-काल है न कि उत्पत्ति-काल।

द्योसरिया कवि देव को नगर इटावें वास।

भाव-विलास की उक्त साक्षी के अनुसार देव इटावा-निवासी सिद्ध होते हैं। उनके वंशजो का कहना है कि बाद में इटावा छोडकर वे कुसमुरा जा बसे थे। यहां से चलकर कुछ वर्ष वे दिल्ली में और कुछ वर्ष चर्खी-दादरी में रहे।

मिश्रजी, शुक्लजी व श्यामसुन्दरदास आदि पुराने इतिहासकारो ने उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण माना है। वास्तव में वे सनाढ्य नहीं प्रत्युत कान्य-

कुब्ज ब्राह्मण थे जैसा कि देव के प्रपौत्र भोगीलाल के निम्न पद से स्पष्ट है—

काश्यप गोत्र द्विवेदि कुल, कान्यकुब्ज कमनीय ।
देवदत्त कवि जगत में, भये देव रमनीय ।।

उनके पिता का नाम विहारीलाल था और वे द्योसरिया कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे ।

देव अनेक आश्रयदाताओ के यहाँ रहे, सर्वप्रथम वे अपने भावविलास, और अष्टयाम नामक ग्रन्थो को लेकर औरगजेव के पुत्र आजमशाह के यहाँ पहुँचे ।

दिल्लीपति अवरग के, आजमशाह सपूत ।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टयाम सजूत ।।

से ज्ञात होता है कि आजमशाह ने इस रचना को सुनकर प्रसन्नता प्रकट की थी । आजमशाह वास्तव में बडा काव्य-प्रेमी और सहृदय व्यक्ति था । आजमशाह के पास कुछ दिन रहने के पश्चात् वे चर्खीदादरी के राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य के यहाँ पहुँचे ।

फफून्द के राजा कुशलसिह के यहाँ भी ये रहे थे । अन्त में ५३ वर्ष की अवस्था में स० १७८३ के लगभग वे राजा भोगीलाल के यहाँ पहुँचे । इन भोगीलाल की प्रशसा में इन्होंने अपने रस-विलास में अनेक पद लिखे हैं । और यह ग्रन्थ इन्हीं को समर्पित किया है । ये भोगीलाल कौन थे, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका, पर इनके पास भी ये न जम सके और इटावा के निकट ड्योढिया खेडा के जमींदार राजा उद्योतसिह के यहाँ पहुँचे । अपनी प्रेम-चन्द्रिका नामक रचना इन्हीं उद्योतसिह को समर्पित की । तदनन्तर उन्हें देहली के कायस्थ रईस सुजानमणि ने सम्मानित किया । सुजान-विनोद ग्रन्थ इन्हीं सुजानमणि के नाम पर लिखा गया है ।

स० १८२४–२५ में इन्हें पिहानी के अधिपति अकबरअली खाँ ने

अपने यहाँ बुलाया। सुख-सागर-तरंग में कवि ने अकबरअली खाँ की पर्याप्त प्रशंसा की है।

इस सारे जीवन को देखकर ज्ञात होता है कि १६ वर्ष की अवस्था से लेकर अपनी मृत्यु तक देव को आश्रयदाताओं की खोज में इधर-उधर भटकना पड़ा। उन्हें आश्रयदाता मिले भी बहुत, पर कहीं भी ये स्थिर रूप से टिक न सके। एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहने के कारण इन्होंने देशाटन खूब किया। इस भ्रमण से प्राप्त अनुभव का इन्होंने अपनी रचनाओं में प्रयोग भी किया है। इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि देव का देहान्त सं० १८२५ के लगभग हुआ था। उनके देहान्त का निश्चित समय और स्थान निर्धारित नहीं हुआ है। इनका पूरा नाम देवदत्त था और इन्हे वाक्शक्ति प्राप्त थी।

देव वास्तव में अनेक शास्त्रों के पण्डित एवं स्वभावसिद्ध कवि थे। उनकी रचनाओं में राग और विराग का अनुपम सामञ्जस्य हुआ है। उनके प्रेम में पर्याप्त गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं।

रचनाएँ

शिवसिंह-सरोज में देव के रचे हुए ग्रन्थों की संख्या ७२ कही गई है। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद' में और 'हिन्दी-नवरत्न' में लिखा है—कोई कहता है इन्होंने ७२ ग्रन्थ बनाये और कोई इन्हें ५२ ग्रन्थो का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रन्थ लिखे हों तो कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि यह महाशय इधर-उधर छन्द उलट-पलट कर नया ग्रन्थ तैयार कर देते थे। किन्तु अब तक उनके निम्न २० ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं—

(१) भाव-विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी-विलास, (४) रस-विलास, (५) प्रेम-चद्रिका, (६) राग-रत्नाकर, (७) सुजान-विनोद, (८) जगदर्शन-पचीसी, (९) आत्मदर्शन-पच्चीसी, (१०) तत्त्वदर्शन-पचीसी,

(११) प्रेम-पचीसी, (१२) शब्द-रसायन, (१३) सुख-सागर-तरग, (१४) प्रेम-तरग, (१५) कुशल-विलास, (१६) जाति-विलास, (१७) देव-चरित्र, (१८) देव-माया-प्रपच, (१९) शृङ्गार-विलासिनी, (२०) शिवाष्टक।

इनके अतिरिक्त शिवसिंह-सरोज तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में देव के निम्नलिखित नौ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है—

(१) रसानन्दलहरी (२) प्रेमदीपिका, (३) सुमिल-विनोद, (४) राधिका-विलास, (५) पावस-विलास, (६) वृक्ष-विलास, (७) नखशिख-प्रेम-प्रदर्शन, (८) नीतिशतक, (९) वैद्यक-ग्रन्थ।

इनमें से कुछ रचनाएँ तो निश्चित किसी अन्य देव कवि की हैं। क्योंकि हिन्दी के रीतिकाल में देव नाम वाले छः-सात कवि हो चुके हैं, जिनमें से प्रथम देव काष्ठजिह्व हैं। यह सस्कृत के विद्वान् विरक्त सत थे। इनका रचना-काल स० १८६७ है। दूसरे देव का जन्म स० १७०३ में हुआ था और तीसरे देव का जन्म स० १७०५ शिवसिंह-सरोज में दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त दो अन्य देव कवियों का वर्णन भी मिश्र-बन्धु-विनोद में दिया गया है। अत उक्त रचनाओं में से तीन-चार पुस्तकें तो निश्चित ही प्रस्तुत देवदत्त या देव कवि की लिखी हुई नहीं हैं, ऐसा उनकी भाषा, विषयशैली से स्पष्ट प्रतीत होता है। अत. यहाँ उनकी प्राप्त पुस्तकों का ही सक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय दिया जाता है।

भाव-विलास—इस ग्रन्थ में रति स्थायी-भावात्मक शृङ्गार-रस का विवेचन पाँच विलासों में किया गया है। पहले विलास में शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति, आलम्बन व उद्दीपन विभाव और अनुभावों का वर्णन है। दूसरे विलास में सात्त्विक भाव और सचारी भावों का विवेचन किया गया है। तीसरे विलास में रसों का विवेचन करते हुए नौ रसो का उल्लेख किया गया है और शृङ्गार-रस का विस्तृत वर्णन है। चौथे विलास में सस्कृत-परम्परा के आधार पर नायक-नायिकाओं का वर्णन किया गया है। पाँचवें में उन्तालीस अलकारों का विवेचन किया गया है।

यह सपूर्ण विवेचन भानुदत्त की रसतरंगिणी नामक संस्कृत रचना और केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया के आधार पर है। इस प्रकार इस प्रयोगकालीन रचना में स्वभावतया अपेक्षित प्रौढ़ता नहीं आ पाई और विवेचन में भी रस-तरगिणी व रसिकप्रिया आदि का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी उदाहरणो में भाषा की सरसता, प्रवाहमयता दर्शनीय हैं। लक्षण भी स्पष्ट हैं। जैसे कि यह पहले बताया गया है, इसकी रचना स० १७४६ में हुई थी और यह देव की १६ वर्ष की अवस्था में लिखी हुई प्रथम रचना सिद्ध होती है। इस प्रथम कृति मे ही कविताएं इतनी सुन्दर और सरस बन पड़ी हैं कि विद्वानों को इसके प्रथम रचना होने में सन्देह होने लगता है, क्योंकि जाति-विलास और भवानी-विलास आदि परवर्ती ग्रन्थों की कविताएँ इससे उत्कृष्ट होनी चाहिए थीं पर वे इससे हल्की हैं। इस शका का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है।

प्रथम तो यह कि स्वाभाविक कवि के लिए यह कोई असभव नहीं कि उसकी प्रारम्भिक रचना ही प्रौढ़ हो। भाव-विलास की रचना भगवती वाग्देवी के प्रसाद से हुई है, ऐसा कवि ने स्वय लिखा है। सरस्वती के वरदान-स्वरूप जो रचना लिखी गई है, उसका प्रौढ़ होना स्वाभाविक ही है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भावविलास का निर्माण कवि की हार्दिक अंत.प्रेरणा से हुआ है, किन्तु परवर्ती अनेक रचनाएं अन्य आश्रयदाताओं की प्रेरणा से उन्हीं को रिझाने के लिए लिखी गई हैं। यह स्वाभाविक बात है कि दूसरे की प्रेरणा से लिखी गई रचनाएं आत्मप्रेरित रचनाओं के समक्ष तुच्छ प्रतीत होंगी। भावविलास की रचना के लिए कवि को कोई उतावली नहीं थी। उसने स्वेच्छापूर्वक खुले अवकाश में उसका निर्माण किया, किन्तु आगामी रचनाएँ आश्रयदाताओं के कहने से तत्काल लिखी गई थीं। चाहे जैसी

बनी, कवि तत्काल कविता बना कर सुनाने में गौरव समझते थे, इसलिए भी भावविलास के बाद में लिखी गई अनेक कविताएँ शिथिल हैं ।

दूसरा कारण यह है कि कवि अपनी इस प्रथम पुस्तक का सपादन जीवन-भर करता रहा । उसने इसमें चुन-चुनकर उत्कृष्ट कविताओं का समावेश किया और हल्की कविताओं को निकाल फेंका। सभवतः इसी कारण इसकी कविताएँ ऐसी सुन्दर हैं । भावविलास के साथ-ही-साथ पूर्व या पश्चात् अष्टयाम की भी रचना हो गई थी, अत. निराग्रह भाव से कहना हो तो कह सकते हैं कि अष्टयाम और भावविलास दोनों ही समकालीन ग्रन्थ हैं । इनमें पौर्वापर्य निर्धारित करना कठिन है क्योकि स० १७४६ में ये दोनों ही ग्रन्थ एक-साथ आजमशाह को सुनाये गये थे ।

भावविलास के नाम से ऐसा ज्ञात होता है कि इसमें दसों रसों—स्थायी भावों और सचारी भावों आदि—का वर्णन किया गया होगा, किन्तु वास्तव में इसमें केवल शृङ्गार-रस, उसके विभाव आदि और ३६ अलकारों का वर्णन है । पुस्तक पाच विलासों में समाप्त हुई है । पहले विलास में शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति, द्वितीय विलास में सचारी भाव और सात्त्विक भाव, तृतीय विलास में रस और उनके भेदोपभेद, चतुर्थ में नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद और पांचवें में अलकारों का वर्णन है । इसकी भाषा और भावों में प्राजलता और विशदता दर्शनीय है । देव के परवर्ती काव्य के समान यहाँ कृत्रिमता नहीं है और न वैसी दुरूहता ही ।

अष्टयाम—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमे राजाओं, रईसो और धनिकों की दैनिक जीवनचर्या का वर्णन किया गया है । उस युग के श्रीमन्तों को आठो पहर या चौबीस घटे रगरलियों के सिवा कोई कार्य नहीं था, अत. इसमें दिन-रात चलने वाले वैभव-विलास का

ही वर्णन हुआ है। यह ६४ कवित्त और सवैयों और ६५ दोहों की छोटी-सी पुस्तक है।

भवानीविलास—यह रचना राजा सीताराम के सुपुत्र भवानीदत्त वैश्य को समर्पित की गई है। यह भी एक नायिकाभेद-सम्बन्धी ग्रन्थ है, इसमें आठ विलास हैं। पहले विलास में नमस्कारात्मक और वस्तु-निर्देशात्मक मगलाचरण है, शेष विलासों में नायिकाओं के नानाविध भेदोपभेदों का विवेचन किया गया है। भावविलास की जैसी सरलता और स्वाभाविकता तो यहाँ नहीं, पर पदावली में प्रवाहमयता यहाँ लक्षित होने लगी है।

प्रेमतरंग—यह ग्रथ अपूर्ण प्राप्त हुआ है जिसमें केवल तीन तरंगें हैं। भवानी-विलास और कुशलविलास में इसका बहुत कुछ साम्य है। नायिकाओं के भेदोपभेद उसी पुराने ढर्रे पर हुए हैं, फिर भी इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ इसलिए माना गया है कि इसके उदाहरण नवीन हैं। इसकी कविताओं में कुछ क्लिष्टता और अर्थगाम्भीर्य के दर्शन होने लगते हैं। इसकी प्रत्येक तरग के अंत में देव कवि का नाम है, अतः यह रचना निश्चय ही देव की है।

कुशल-विलास—यह फफूंद के राजा कुशलसिंह को समर्पित प्रेमतरग पुस्तक का रूपान्तरण मात्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब कवि कुशलसिंह के यहाँ पहुँचा तो उसने अपनी पहले से ही तैयार रचना तत्काल नरेश के नाम पर समर्पित कर दी। पुस्तक का नाम भी प्रेम-तरग से बदल कर कुशलविलास रख दिया गया। इसका रचना-काल सं० १७६० के लगभग निर्धारित किया गया है। इसमें नौ तरग हैं। विषय वही घिसा-पिटा नायिका-भेद है।

जाति-विलास—इस ग्रथ की रचना के समय कवि आश्रयदाता की खोज में या अन्य कारणों से भारत के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण कर रहा था। उसने देश-देश के नारी-सौन्दर्य का प्रत्यक्ष अनुभव

किया था। अपने इस लम्बे और सूक्ष्मदर्शितापूर्ण अनुभव को काव्य का रूप देने के लिए उसका हृदय आतुर हो उठा। अब तक कवि ने भावविलास, भवानी-विलास, कुशलविलास आदि ग्रन्थों में शास्त्रीय परम्पराओं के आधार पर ही नायक-नायिकाओं या स्त्रियों की विविध वृत्तियों और भाव-भंगियों का वर्णन किया था। इसमें कहीं कुछ नई उद्भावना भले ही हो स्वानुभूति का लेश भी नहीं था। किन्तु देश-देशान्तरों के उस व्यापक भ्रमण ने कवि को तत्तद् देशों की स्त्रियो का निकट के अध्ययन का अवसर प्रदान किया। देव ने जातिविलास में विविध देशों और ब्राह्मण, क्षत्रिय, सुनार, नाई आदि जाति की स्त्रियों का वर्णन किया है।

रसविलास—इसका रचनाकाल कवि ने स्वय ही स० १७८३ दिया है। अनेक वर्ष इधर-उधर भटकने के पश्चात् कवि को फिर एक अच्छा आश्रयदाता भोगीलाल के रूप में प्राप्त हो गया। इन्हीं को समर्पित करने के लिए इस ग्रन्थ का सकलन हुआ है। यह भी जातिविलास, भवानीविलास आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों का सग्रहमात्र है। इसमें सात विलास हैं। नाम तो इसका रसविलास है पर भावविलास के समान यहां भी शृङ्गार-रस की आलम्बन नायिका का वर्णन किया गया है। विषय की दृष्टि से कुछ भी नवीनता न होते हुए भी कविता का प्रौढ़ रूप अवश्य लक्षित होता है।

प्रेमचन्द्रिका—यह ग्रन्थ राजा उद्योतसिंह के लिए लिखा गया है। पुस्तक चार प्रकरणों में विभक्त है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, पुस्तक में प्रेम की महिमा का बखान हुआ है। प्रथम प्रकरण में प्रेम का वर्णन करते हुए प्रेम और विषय में अन्तर दिखाया गया है। द्वितीय प्रकाश में प्रेम के पाँच भेद बताये गये हैं। तृतीय में प्रेम के प्रथम भेद शृङ्गार का और चतुर्थ में प्रेम के अन्य चार भेद सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य का वर्णन है। प्रेमचन्द्रिका वास्तव में सर्वांशत. काव्य-ग्रन्थ

तन्मयता दर्शनीय है। इन्हीं गुणों के कारण देवशतक की कविताएँ उपदेशात्मक तुकबदियाँ न होकर भावप्रधान उत्कृष्ट कलात्मक रचनाओं के रूप में ही हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। भाषा में भी यहाँ पर्याप्त प्रौढता और सुगठितता के दर्शन होते हैं।

सुखसागर-तरंग—यह ग्रन्थ पिहानी के राजा अकबरअलीखाँ को समर्पित है। यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर सर्वांशत अपनी पूर्वलिखित कविताओं का सकलन-मात्र है। इसमें बारह अध्याय और ८५६ छन्द हैं। पहले अध्याय में अकबरअलीखाँ का वश-वर्णन और भगवती के महागौरी, महालक्ष्मी और महासरस्वती तीनों रूपो की वन्दना के साथ-ही-साथ रुक्मिणी और राधा की स्तुतियाँ भी हैं। इसके अनन्तर नायक-नायिकाओं के शृङ्गार और प्रणय-भावनाओं के उद्गम के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे और तीसरे अध्याय में अष्टयाम के आधार पर नायक नायिकाओं की दिनचर्या है और शेष अध्यायों में नायिका-भेद वर्णित है। जैसा कि कवि ने स्वय लिखा है, सुखसागर-तरग में उसने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थों की उत्कृष्ट कविताओं का बडा सग्रह कर दिया है। देव के शृङ्गार और नायिका-भेद-सबधी विविध ग्रन्थों को न पढ़ कर सुखसागर-तरग ही पढ जाइए तो आपको उसकी रचनाओं का सार प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार जैसे देवशतक में देव की वैराग्य और भक्ति-सबधी सब कविताओं का सकलन है, वैसे ही सुखसागर-तरग उसकी शृङ्गारिक रचनाओं का विशालकाय सग्रह है। इस पुस्तक का रचना-काल देव के तात्कालिक आश्रय-दाता अकबरअलीखाँ के शासन-काल के आधार पर स० १८२४ के लगभग निर्धारित किया गया है। इन ८५६ छन्दों में से लगभग ६५० छन्द तो अष्टयाम, रस-विलास, जाति-विलास, भवानी-विलास, भाव-विलास आदि ग्रन्थों में अविकल रूप में विद्यमान हैं। शेष दो सौ छन्द भी सम्भवत उनके किन्हीं ऐसे ग्रन्थों से लिये गये होंगे जो आज उपलब्ध नहीं हैं। अथवा यह भी सभव हो सकता है कि वे बिखरे

हुए पद हों जो अब तक किसी ग्रन्थ में स्थान नहीं पा सके, उन सबका समावेश भी इसमें कर दिया गया हो।

देवचरित्र और देवमायाप्रपंच नाटक—इन दोनों ग्रन्थों में कवि की वासनात्मक शृङ्गारिक प्रवृत्तियों का विरोध दिखाई देता है। देव-चरित्र में जीवन की मार्मिक अनुभूतियो और कटु सत्यों का हृदयस्पर्शी शब्दों में चित्रण हुआ है। देवमाया-प्रपंच नाटक के रचयिता के सबंध में विद्वानो में मतभेद पाया जाता है। आचार्य श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस नाटक को किसी अन्य देव कवि का लिखा हुआ माना है, पर वास्तव में यह इन्हीं का लिखा हुआ है, किसी अन्य का नहीं। श्री डा० नगेन्द्र ने देवमाया-प्रपच को देवकविकृत ठहराते हुए निम्नलिखित दो पद उद्धृत किये हैं, जो इस नाटक के अतिरिक्त देव के देव-शतक और शब्द-रसायन आदि अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं—

हाय दई भट काल के स्याल मे फूल से फूलि सबै कुम्हिलाने।
देव अदेव सभी बलहीन चले गये मोह की हौंस हिलाने॥
या जग बीच बचै नही मीचुपै जे उपजे ते मही में मिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने॥

अन्तरु कै नहिं, अन्तरकै, मिलि अन्तरु कै, सुनिरतरु धारै।
ऊपर बाहि न ऊपर बाहित, ऊपरि बाहिर की, गति चारै॥
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै।
देव रँगी सुरत्यो, सुरत्यो मनु देवर की, सुरत्यो न बिसारै॥

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक प्रबोधचन्द्रोदय के आधार पर लिखित ६ अकों के इस नाटक में अद्वैतवाद के सिद्धान्त के आधार पर जीव, ब्रह्म, माया, बुद्धि, मन आदि आध्यात्मिक भावो का प्रतिपादन हुआ है। नाटक एक आध्यात्मिक रूपक है। परमपुरुष की माया और प्रकृति नामक दो पत्नियाँ हैं। प्रकृति से बुद्धि और माया से मन का जन्म होता है। मन अपनी माँ माया के जाल में फँसकर अपने पिता परम-

पुरुष (आत्मतत्त्व या परमात्मतत्त्व) तथा बुद्धि से विमुख हो जाता है। पर अन्त में सत्संगति की कृपा से उसका फिर आत्मतत्त्व—परमपुरुष व बुद्धि से मिलन हो जाता है।

परमपुरुष, प्रकृति, बुद्धि, माया आदि प्रतीकात्मक या सांकेतिक पात्र हैं। प्रतिपादन-शैली व उद्देश्य देवमाया-प्रपंच के भी प्रबोध-चन्द्रोदय के समान ही हैं, पर कथा-विकास दोनों का सर्वथा स्वतन्त्र ढंग से हुआ है। अत इसे प्रबोध-चन्द्रोदय का रूपान्तर नहीं कह सकते। वास्तव में संस्कृत नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय की शैली पर लिखा हुआ स्वतन्त्र नाटक है। इसमें गद्य का सर्वथा अभाव है, अत. इसे पद्य-नाटक—जैसे कि आजकल गीति-नाट्य या भाव-नाट्य लिखे जाते हैं—कह सकते हैं। पंत की ज्योत्स्ना आदि आधुनिक पद्य-नाटक इसी प्रकार के हैं।

सुजान-विनोद—रसानन्दलहरी भी इसी पुस्तक का नाम है। इसमें सात विलास हैं। यहां कवि ने नायिकाओं के सम्बन्ध में एक विचित्र कल्पना की है। किस ऋतु में कौन-सी नायिका उपयुक्त है, उसका विवेचन करते हुए वर्षा, शरद्, बसन्त आदि में अज्ञातयौवना तरुणी प्रौढ़ा आदि नायिकाओं को उपयुक्त बताया गया है। पहले के पांच विलासों में इसी प्रकार नायिका-भेद-सम्बन्धी पद भवानी-विलास, रस-विलास, प्रेम-चन्द्रिका आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। इन दोनों विलासों में ऋतु-वर्णन किया है जो वस्तुतः हृदयग्राही है। सुजान-विनोद देहली के कायस्थ रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि के लिए लिखा गया है।

रागरत्नाकर—यद्यपि यह भी लक्षण-ग्रन्थ ही है पर देव की सब रचनाओं में यह सर्वथा नवीन प्रयोग है। इसमें राग-रागिनियों का वर्णन किया गया है। पुस्तक दो अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में ६ रागों और रागिनियों का वर्णन है। दूसरे अध्याय में १३ उपरागों का वर्णन है। इन राग-रागिनियों का निरूपण संगीतशास्त्र के अनुसार

है। इससे ज्ञात होता है कि देव केवल कवि ही नहीं, संगीतशास्त्र के भी पारंगत थे।

शब्द-रसायन—अपने अन्य सब ग्रन्थो में देव प्रमुखतया कवि के रूप में ही उपस्थित हुए हैं, पर शब्द-रसायन में उनका आचार्य-रूप विकसित हुआ है। यह एक प्रौढ़ लक्षण-ग्रन्थ है। जिसके ११ प्रकाशो में काव्य के शब्द-शक्ति, रस, अलंकार, रीति, गुण और छन्द आदि सभी अगो का विस्तृत विवेचन किया गया है। दूसरे प्रकाश में अभिधा, लक्षणा, और व्यजना इन तीनो शब्दशक्तियो का निरूपण किया गया है। प्राचीन आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए तात्पर्या नामक चौथी वृत्ति को भी स्वीकार किया गया है। तीसरे प्रकाश से छठे प्रकाश तक रसो का विवेचन है। ये प्रसंग भाव-विलास, भवानी-विलास से ही उठाकर रख दिये हैं। सातवें में रीति तथा गुणों का और आठवें प्रकाश में चित्र-काव्य का वर्णन है। नवें प्रकाश में अर्थालकारों का विवेचन करते हुए ४० मुख्य और ३० गौण अलकार माने हैं। दसवें और ग्यारहवें प्रकाश में छन्दों का विवेचन है।

'शब्द-रसायन' नाम की सार्थकता दिखाते हुए कवि ने लिखा है कि—

शब्द रसायन नाम यह शब्द अर्थ रस सार।

आचार्यत्व का पूर्ण निर्वाह करने के लिए देव ने इस ग्रन्थ में लक्षणो-उदाहरणों का समन्वय भी किया है। पर गद्य के अभाव के कारण विवेचन स्पष्ट नहीं हो पाया।

देव-चरित्र—देव-चरित्र लिखने के पूर्व तक कवि शृङ्गार-रस में पगा रहा। फलतः उसने श्रीकृष्ण के शृङ्गारी रूप का ही वर्णन किया। पर अब वह धीरे-धीरे मुक्ति और विरक्ति की ओर अग्रसर होने लगा अतः कवि ने इस ग्रन्थ में भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन भक्त के रूप में किया है। श्रीकृष्ण के अवतार-ग्रहण, बाललीला और कस

वघ आदि का अनेक सुन्दर पदो में वर्णन किया गया है। इस विस्तृत वर्णन के वाद कुछ पदों में कृष्ण के द्वारिका-गमन आदि का भी चलता-सा चित्र अंकित कर दिया गया है। इसमें कुल १५० छन्द हैं, जो सबके सब नवीन हैं।

इस प्रकार देव-चरित्र देव का एक सुन्दर खण्डकाव्य है। इससे कवि के प्रबन्ध-निर्वाह-कौशल का परिचय मिल सकता है।

देव के इन प्रमुख प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवाष्टक को भी देवकृत माना गया है। जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है, इसमें भगवान् शकर की स्तुति के आठ कवित्त हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ या तो उपलब्ध नहीं हैं या उनके रचयिता के सम्बन्ध में मत-भेद है। अत उनके परिचय आदि की आवश्यकता नहीं।

देव का काव्य-वैशिष्ट्य—

देव की कविताओं में अनेक विशेषताएँ लक्षित होती हैं। इनमें से सर्व-प्रथम है—व्यक्तित्व की अभिव्यजना। देव के काव्य में उनका अपना जीवन और समाज दोनों ही समानान्तर रूप में व्यक्त हो रहे हैं। उनकी कविता में अनेक प्रकार के विरोधी तत्त्वों का अपूर्व सामजस्य हुआ है। सामान्य रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अधिकतर काव्य अपने आश्रय-दाताओ की प्रेरणा से उन्हीं की पसन्नता के लिए लिखे गये थे, किन्तु थोडा-सा विचार करने पर अवगत होता है कि देव का काव्य पर-प्रेरणा से नहीं लिखा गया, जितना कि आत्म-प्रेरणा से। देव कवि प्रथम और भक्त वाद में थे। कवि में भी उनका रूप शृङ्गारिक कवि का ही रहा। उन्होंने गोस्वामी जी के समान स्वात सुखाय रचना करने की कहीं घोषणा नहीं की, तो भी उनकी कविताओं से लक्षित होता है कि कवि के हृदय में जब जिस भाव का प्राधान्य रहा, उसी भाव को प्रकट करने के लिए कविताएँ लिखी जाती रहीं। प्रारम्भ में कवि ने यौवन और विलास से भरे ऐसे प्रेम के गीत गाये हैं, जिनमें यौवन-सुलभ चचलता छलक रही

है। यहाँ अन्तस् के स्वाभाविक भाव व्यक्त हुए हैं। भाव-विलास में ऐसी कविताओ का बाहुल्य है। परवर्ती काव्य में इस चंचलता का स्थान गम्भीरता ने ले लिया है। भाषा, शैली और भावाभिव्यक्ति तीनों में प्रौढता के दर्शन होने लगते हैं। जब कवि देशाटन के लिए निकला तो उसने देश-देशान्तरो के अनुभवो को जाति-विलास के रूप में पद्यबद्ध किया है। जब देव अपनी प्रौढावस्था को पारकर वार्धक्य की ओर अग्रसर हुए तो उन्होंने देव-चरित्र की रचना कर सगुण-साकार प्रभु श्रीकृष्ण के गुण गाये। यह उनकी वानप्रस्थावस्था कही जा सकती है, आगे संन्यासाश्रम की अवस्था में प्रवेश कर वे ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख हुए।

देव का देवमायाप्रपच नाटक और आत्मदर्शन-पच्चीसी, तत्त्व-दर्शन-पच्चीसी आदि पुस्तकों में वेदान्त-सम्बन्धी विचार ही प्रमुखतया व्यक्त हुए हैं। इस प्रकार से विभिन्न क्षेत्रो में और विविध अवस्थाओं में कवि के हृदय में जिन-जिन भावो का उदय हुआ, वे ही काव्य रूप में परिवर्तित हो गये।

देव-काव्य का अध्ययन करने के अनन्तर यह धारणा दृढतर हो जाती है कि वे साहित्य-मर्मज्ञ, विद्वान् आचार्य तो थे ही, उन्हें सच्चे कलाकार का हृदय भी प्राप्त था। यह बात दूसरी है कि परिस्थितियो के अनुकूल न रहने के कारण जीवन-निर्वाह के साधनो को जुटाने में ही उन्हें अधिक भटकना पडा और अपने आश्रयदाताओ को रिझाने के लिए उनके नाम पर ग्रन्थ-रचना करने को बाध्य होना पडा, पर यदि वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और प्रकृति से काम लेकर नायिकाओ के भेदों के जजाल में न पडकर या लक्षणग्रन्थो के चक्कर से निकल कर स्वतन्त्र काव्य का निर्माण करते तो उनका सम्मान आज से कहीं अधिक होता।

देव, पवित्र प्रेम के सदेशवाहक कलाकार थे। इस प्रेम में नायिकाओ के परकीया आदि भेदो को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने दाम्पत्यप्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया। इस दाम्पत्य प्रेम में अत्यन्त पवित्रता,

सात्त्विकता व निस्वार्थता अन्तर्हित रहती है। दो आत्माओं का एकीकरण हो जाता है ; और कवि का हृदय बोल उठता है कि—

मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिकामय,
राधिका हूँ मोहि मोहि मोहनमयी भई।

देखिए निम्न दोहे में उन्होने प्रेम की क्या ही पवित्र और सुन्दर परिभाषा की है—

सुख दुख में हैं एक सम तन मन वचननि प्रीति।
सहज बढे हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति ॥

देव का प्रकृतिचित्रण भी बड़ा मनोहर है। यद्यपि हिन्दी के सभी प्राचीन कवि अपने-आपको मानव-प्रकृति से आगे नहीं बढ़ा पाये, तदनुसार देव भी मानव-प्रकृति के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहे, पर यह मानव-चित्रण भी सहज सुन्दर है, इसमें कुछ सदेह नहीं। प्रेम के प्रमुख रूप शृङ्गार के सयोग और वियोग दोनों भेदों का वर्णन करते हुए देव की दृष्टि सयोग पर ही अधिक जमी है। उनके सयोग में जितनी ही स्वाभाविकता है वियोग में उतनी ही कृत्रिमता। इसमें कुछ सदेह नहीं कि देव के काव्य में कलापक्ष अत्यन्त प्रौढ है, पर भाव-पक्ष भी निर्बल नहीं। जहाँ लम्बे साग-रूपक आदि अनेक अलकारों की झडी लगी हुई है वहाँ हृदय की वृत्तियो का भी पूर्ण प्रकाश हुआ है। वे वियोगिनी की आँखों को योगिनी बताकर फिर उन्हें सयोगिनी बनाने के लिए प्रिय से प्रार्थना करते हुए कैसी लम्बी उडान भर रहे हैं, देखिए—

वरुनी बघबर में गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते वसन भगोहे भेस रखियाँ।
बूडी जल ही में दिन जामिनिहूँ जागैं भौहैं,
धूम सिर छायो विरहानल बिलखियाँ।

आंसू ज्यो फटिक माल लाल डोरे सेली पैन्हि,
भई है अकेली जाति चेली सग सखियां।
दीजिए दरस देव कीजिए संजोगिनी, सु—
जोगिनी है वैठी ये वियोगिनी सी आखियां।

इस सम्पूर्ण कविता को पढ जाने पर सहृदय के हृदय में विरहिणी के प्रति संवेदना का भाव नहीं जागृत होता। हां, कवि की कल्पना-शक्ति पर पाठक की प्रतिभा अवश्य चमत्कृत होगी।

किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं, कहीं-कहीं वियोग के भी बड़े ही मर्मस्पर्शी चित्र उन्होने अंकित किये हैं। एक चित्र देखिए—

जवते कुंवर कान्ह, रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूं सुजस कहानी-सी।
तवही तें देव देखी देवता-सी हँसति-सी,
खीझति-सी रीझति-सी, रूसति, रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छोरि लीनी-सी, छकी-सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागी थकी थहरानी-सी।
वीधी सी, वँधी-सी, विप वूडी-सी, विमोहित-सी,
वैठी वह वकति विलोकति विकानी-सी॥

यहां पर विरहिणी नायिका के हाव-भावों और चेष्टाओ का चित्रोपम वर्णन हुआ है।

विरक्ति के उदय होने पर कवि विषय-वासनाओ में भटकते हुए मन की भर्त्सना करते और उसे चेतावनी देते हुए क्या ही उदात्त विचार व्यक्त कर रहा है—

ऐसो जो हो जानतो कि जैहै तू विषै के सग,
ए रे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
आजु लो हो कत नर-नाहन की नाही सुनी,
नेह सो निहारि हारि वदन निहोरतो॥

चलन न देतो देव चचल अचल करि,
चाबुक चितावनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दे गरे सो बाँधि,
राधावर-विरद के वारिधि में बोरतो॥

देव की भाषा के सम्बन्ध में मतभेद है। श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति समालोचकों का कहना है कि इनकी भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय बहुत अधिक और अर्थ बहुत अल्प हैं। अक्षरमैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पडते थे, जो एक ओर भद्दी तडक-भडक मिलाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिए ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोडते-मरोडते न थे वाक्य को ही परिवृत्त कर देते थे।

इसके विपरीत कृष्णविहारी मिश्र आदि विद्वानों का मत है कि भाषा-साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियो की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। भाषा की सरसता और कोमलता में ये दोनों कवि अन्य कवियो मे बहुत बढे-चढे हैं। विशेषकर देव की भाषा अद्वितीय है।

वास्तव में ये दोनो ही पक्ष अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। शब्दों की तोड-मरोड के रहते हुए भी व्रजभाषा का सौन्दर्य देव की कविता में पर्याप्त मात्रा में निखरा है, इसमें कुछ सदेह नहीं।

देव के काव्य, उनके प्रतिपाद्य विषय एव भाषा के सम्बन्ध में इतना विचार कर लेने के पश्चात् उनकी शैली आदि अन्य तत्त्वो की परख आवश्यक है। देव के साहित्य को हम मुख्यतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) लक्षण-ग्रन्थ, (२) स्वतन्त्र काव्य।

स्वतन्त्र काव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) मुक्तक—देवशतक, (२) खण्ड-काव्य—देवचरित्र और (३) नाटक—देवमायाप्रपच।

काव्य की इन सब विधाओं पर लेखनी चलाते हुए भी देव ने विविध

छन्दों का उपयोग नहीं किया। उनकी अधिकतर रचनाएँ कवित्त, घनाक्षरी, सवैया आदि छन्दों में ही लिखी गई हैं। कुछ दोहे भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। इनके काव्य में प्रसाद और-माधुर्य गुण पर्याप्त अंशो में विद्यमान हैं।

बिहारी की कविता के प्रचार का सबसे बड़ा कारण दोहा छन्द है। छोटे-छोटे दोहे पढ़ते-पढते या सुनते-सुनते सहृदयो को अनायास ही स्मरण हो जाते हैं। पर लम्बे-लम्बे कवित्तों का स्मरण करना तो दूर रहा अर्थावबोध के लिए भी कुछ धैर्य की आवश्यकता होती है। साथ ही बिहारी के काव्य में वाग्वैदग्ध्य भी खूब है। फ़ारसी काव्य के प्रभाव से वह युग ही अनूठी उक्तियो की वाहवाही का था। पर वर्तमान युग में तो देव और बिहारी दोनो को ही पुराने 'शृंगारिक कवि' कहकर उनके काव्य से नाक-भौंह सिकोड़ा जाने लगा है। अतः देव को यथोचित सम्मान न प्राप्त हो सका, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि देव और बिहारी ये दोनो ही रीतिकाल के प्रमुख कवि हैं।

सुन्दरदास

परिचय

सुन्दरदास का जन्म द्योसा (जयपुर राज्य) में चैत्र शुक्ला नवमी सवत् १६५३ में हुआ था। इनके पिता का नाम परमानन्द और माता का नाम सती देवी था। यह लोग बूसर गोत्र के खडेलवास वैश्य थे। जब ये छ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्योरा में गये थे। तभी से यह दादूदयाल के शिष्य हो गये और उनके साथ रहने लगे। सवत् १६६० में दादूदयाल का देहान्त हो गया। तब तक ये दादूपथ के केन्द्र नराना (जयपुर) में रहे। दादू की मृत्यु के बाद उनके पुत्र और उत्तराधिकारी गरीबदास जी ने ईर्ष्यावश सुन्दर का कुछ अपमान किया था जिससे खिन्न होकर वे कुछ दिन के लिए फिर एक बार अपने माता-पिता के पास चले आये। सवत् १६६४ में जब सुन्दरदास जी लगभग ११ वर्ष के थे, यह जगजीवन नाम के एक सस्कृत विद्वान् के सम्पर्क में आये। उसने इन्हें काशी चलकर विद्याध्ययन करने की सलाह दी और ये तैयार हो गये। इन्होंने काशी के प्रकाण्ड पण्डितों के यहां संस्कृत-साहित्य का व्यापक और गम्भीर अध्ययन किया। साथ-ही-साथ यहां साधु-सन्तों का सत्सग भी खूब किया। इस सारे वृत्तान्त की पुष्टि भक्तमाल में आये हुए राघवदास के निम्नलिखित पद्य से होती है—

दिवसा है नग्र चोखा बूसर है साहूकार,
सुन्दर जनम लियो ताहि घर आइ कैं।
पुत्र की चाहि पति दई है जनाई,
जिया कह्यो समुझाई स्वामी कहो सुखदाइ कैं।

स्वामी मुख कही सुन जनमँगो सही,
पै विराग लँगो वही घर रहै नाही माई कै।
एकादस वरस में त्याग्यो घरमाल सव,
वेदान्त पुरान सुने वारानसी जाइ कै॥

वनारस में तीस वर्ष की अवस्था तक ये सस्कृत, व्याकरण, वेदान्त पुराण आदि पढ़ते रहे। संस्कृत के अतिरिक्त इन्हें फारसी का भी था।

सवत् १६८३ के लगभग ये फिर राजपूताने से लौटे और फतेहपुर ावाटी) नामक स्थान में अपने एक पुराने गुरुभाई वावा प्रागदास के रहने लगे। वहाँ के नवाव अलिफखाँ इन्हे वहुत मानते थे। यहाँ हाजनों का इनकी स्मृति में बनवाया हुआ एक पक्का कुआँ और मकान भी मौजूद है। यहाँ ये प्रायः वावा प्रागदास की मृत्यु तक रहे। फिर ने देशाटन और सत्संग में अपना जीवन विताना आरम्भ किया। ीय भारत, पंजाव, राजपूताना, गुजरात और काठियावाड़ प्रान्तो में ने भ्रमण किया।

घूम-फिरकर इन्होंने फिर कुछ दिन फतेहपुर में निवास किया। ् १७४० में जयपुर से ८ मील दक्षिण सांगनेर चले गये। वहाँ के एक प्रधान शिष्य रज्जव जी रहते थे।

सांगनेर में ही सुन्दरदास जी ने अन्तिम दिन काटे। इस समय की अवस्था ९० वर्ष से ऊपर थी। संवत् १७४६ में ये कुछ रोगग्रस्त और वीमारी वढ़ती गई, पर साथियो के वहुत आग्रह करने पर इन्होंने गुरु और ईश्वर-गुण-गान के अतिरिक्त किसी औषधि का र नहीं किया। अन्त में उसी साल कातिक सुदी अष्टमी वृहस्पतिवार के परलोक सिधारे। इनके अन्त समय के वचन 'अन्त समय की साखी' ाम से प्रसिद्ध हैं। इनका डील-डौल वहुत अच्छा रग गोरा, रूप

बहुत सुन्दर था। स्वभाव अत्यन्त कोमल और मृदुल था। वे बाल-ब्रह्मचारी थे और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे।

रचना—

इनका रचनाकाल इनके काशी से लौटने के बाद प्रारम्भ होता है। निर्गुण-पंथियों में ये ही ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अन्य सन्त-कवियों की भाँति इन्होंने केवल भजन के योग्य शब्द और पद ही नहीं कहे हैं, उच्चकोटि के प्रथम श्रेणी के कवियो के समकक्ष इन्होंने अनेक कवित्त-सवैये भी रचे हैं। इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी इनकी सधुक्कड़ी बोली नहीं वरन् सुन्दर मँजी हुई सुव्यवस्थित पर ईषत् राजस्थानी-रंजित ब्रजभाषा है। सारांश यह है कि भक्तिरस के साथ-साथ उच्चकोटि की साहित्यिकता का परिचय देने वाले यही एक सन्त कवि हो गये है।

यों तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रन्थ हैं, पर 'सुन्दर-विलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें कवित्त, सवैया ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयों में यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालंकारों तथा विविध अर्थालंकारों की भी अच्छी योजना मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण सन्तों की रचना से भिन्न प्रकार की जान पड़ती है। सन्त तो ये थे ही, पर कवि भी थे। यही कारण है कि इनकी रचना में देश-काल तथा समाज की रीति-नीति तथा लोक-मर्य्यादा की अवहेलना नहीं खटकती। समाज की रीति-नीति और व्यवहार पर यह पूरी दृष्टि रखते हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं। जैसे '—

गुजरात पर—

"आभड छीत अतीत सो होत बिलार औ कूकर चाटत हाँडी।"

मारवाड पर—

"वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू।"

दक्षिण पर—

"राँधत प्याज, विगारत नाज, न आवत लाज, करै सब भच्छन।"

पूरब देश पर—

"ब्राह्मन छत्रिय वैस रु सूदर चारोइ के जन मच्छ वघारत।"

इनकी कविता में हास्य और विनोद का अच्छा पुट देखने में आता है। विभिन्न देशों की प्रथाओं पर इनकी उक्तियो से इस कथन की पुष्टि होती है।

इसकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाईके देह संवारी।
मेह सहै सिर सीत सहै तन, धूप समै जु पंचागिनि वारी॥
भूख सहै रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सवै दुख भारी।
डासन छांडि के कासन ऊपर, आसनि मारि पै आसन भारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटांग वानी से इनको घृणा थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

वोलिये तो तब जब, वोलिवे की सुधि होइ,
न तो मुख मौन गहि, चुप होई रहिये।
जोरिये तो तब जब, जोरिवे की जानि परै,
तुक छन्द अरथ अनूप जा में लहिये।
गाइये तो तब जब, गाइवे को कण्ठ होइ,
श्रवण के सुनत ही मन जाइ गहिये।
तुक-भंग छन्द-भंग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी, वाणी नहिं कहिये॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने के कारण इन्होंने अन्य निर्गुणवादियो की तरह लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत का

पालन करने वाली स्त्रियो, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करने वाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में पूरी जगह थी। उदाहरणार्थ—

पति ही सूं प्रेम होय, पति ही सूं नेम होय,
पति ही सूं छेम होय, पति ही सूं रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूं मिटै सोग, पति ही को जत है।
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुन्दर सकल विधि एक पतिब्रत है॥

सुनत नगारे चोट, बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मान है न तन में।
फेरै जब सांग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में।
कूदि कै पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावत के गण में।
मारि घमासान करि सुन्दर जुहारै श्याम,
सोई सूरबीर जोई रूपि रहे रन में॥

असन बसन बहु, भूषण सकल अंग,
सम्पति विबध भाँति भरयो सब घर है।
श्रवण नगारो सुनि छिनक में छाँडि जाति,
ऐसे नहिं जानै कछु मेरो वहाँ भर है।
मन में उछाह रण माहि टूक-टूक होई,
निर्भय निसंक वाके रचहू न डर है।

सुन्दर कहत कोऊ, देह को ममत्व नाहिं,
सूरमा को देखियत, सीस विनु धर है।

अन्य निर्गुण सन्तों की तरह एक निराकार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना करना सुन्दरदास के अनुकूल नहीं है। उन्होंने सुन्दर शब्दों में कहा है—

एक सही सवके उर अन्तर,
ता प्रभु कूं कहु कहि नहिं गावै।
सकट माहिं सहाय करै पुनि,
सो अपनो पति क्यूं विसरावै।।
चार पदारथ और जहाँ लगि,
आठहु सिद्धि नवो निधि पावै।
सुन्दर छार परो तिनके मुख,
जो हरि कूं तजि आन कूं ध्यावै।।

भारत के सभी सन्तो तथा कवियो ने माना है कि गुरु ही एकमात्र सहायक है, जो हमें भवसागर से पार उतार सकता है। कवीर, तुलसी आदि कवियो ने गुरु-महिमा पर वहुत कुछ लिखा है। सुन्दरदास जी भी गुरु को ही इस संसार के फन्दे से मुक्त कराने वाला मानते हैं। गुरु-उपदेश द्वारा ही इस ससार में जितने प्राणी हैं, मुक्ति पाते हैं। गुरुहीन व्यक्ति रसातल में सीधे पहुंच जाते हैं—

गोविंद के किये जीव, जात है रसातल को,
गुरु उपदेश से तो, छूटै जमफंद तें।
गोविंद के किये जीव वस परे कर्मन के,
गुरु के निवाजे से, फिरत स्वच्छन्द तें।
गोविंद के किये जीव, बूडै भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काटै दुख द्वन्द तें।

औरहू कहाँ लौं कछू, मुख तें कहूँ बनाय,
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविंद ते ।
परमेसुर अरु परम गुरु, दोनो एक समान ।
सुन्दर कहत विशेष यह, गुरु ते पावै ज्ञान ।।

गुरु दादूदयाल के प्रति उनके शब्द—

परमातम से आतमा, जुदे रहे बहु काल ।
सुन्दर मेला कर दिया, सतगुरु मिले दयाल ।।
नभमनि चितामनि कहै, हीरामनि मनिलाल ।
सकल सिरोमनि मुकुटमनि, सतगुरु प्रकट दयाल ।।

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टितत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाग नहीं हैं—शास्त्र के अनुकूल हैं । उदाहरण के लिए नीचे का पद्य लीजिए—

ब्रह्मते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई,
प्रकृति में महत्तत्त्व, पुनि अहकार है ।
अहकार हूँ ते तीन गुण, सत, रज, तम,
तमहूँ ते महाभूत विषय प्रसार है ।।
रजहूँ ते इन्द्री दस पृथक पृथक भई,
सत्तहूँ ते मन आदि देवता विचार है ।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है ।।

अन्य ग्रन्थ—

इनके मुख्य ग्रथ 'ज्ञान-समुद्र', 'लघुग्रन्थावली', 'साखी', 'पद' 'सुन्दर-विलास' हैं । यों तो इनके छोटे-बडे २२ ग्रन्थ प्राप्य हैं । सु विलास का उत्तम सस्करण 'सुन्दर-सार' नाम से काशी नगरी-प्रचा सभा द्वारा प्रकाशित हुआ

मतिराम

परिचय

मतिराम रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि ये कविवर चिन्तामणि तथा भूषण के भाई थे। इनका जन्म तिकवांपुर जिला कानपुर में संवत् १६७४ के लगभग हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

अन्य रीतिकालीन कवियो की तरह मतिराम को भी आश्रयदाता की आवश्यकता पडी। उस समय बूदी में महाराज भावसिंह बडे भावुक और कविताप्रेमी थे। उन्हीं के आश्रय में मतिराम बहुत काल तक रहे। वहीं पर 'ललितललाम' नामक अलंकार-ग्रंथ संवत् १७१६ से १७४५ के बीच किसी समय रचा। इनका दूसरा ग्रन्थ 'छन्दसार' महाराज शम्भुनाथ सोलकी को समर्पित है। इससे पता लगता है कि बाद में मतिराम जी उनके आश्रय में चले गये। इनका अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृङ्गार'। हिन्दी पुस्तकों की खोज में इनकी एक पुस्तक 'मतिराम-सतसई' प्राप्त हुई है जिसकी रचना 'बिहारी-सतसई' के ढंग पर है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान हैं।

मतिराम की भाषा और शैली—

मतिराम प्रतिभासम्पन्न कवि थे, जिनके काव्य में कृत्रिमता नहीं आने पाई है। उनकी रचना की सबसे बडी विशेषता यह है कि उनकी

सरसता अत्यन्त स्वाभाविक है। न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है, केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यजना से युक्त हैं रीतिग्रन्थ वाले कवियो में इस प्रकार की स्वच्छ चलती और स्वाभाविक भाषा सिवाय पद्माकर के किसी कवि में नहीं मिलती। सारांश यह कि मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसाद-पूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालो में बहुत ही कम मिलती है।

भाषा ही के समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यजक व्यापार और चेष्टाएं। भावो को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौडी के लाने के फेर में ये नहीं पडे हैं। नायिका और विरहताप को लेकर विहारी की तरह इन्होंने खिलवाड़ नहीं किया। इनकी भाव-व्यजक व्यापारों की शृङ्खला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। मतिराम का हृदय एक सच्चा कवि हृदय था। यदि वे समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'रसराज' और 'ललितललाम' मतिराम के ये दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में ये अपने विषय के अनुपम ग्रन्थ हैं। 'रसराज' में शृङ्गार-रस की प्रधानता है।

यह ससार प्रकृति-पुरुष की केलि-लीला की रगस्थली है। नारी-पुरुष की प्रीति का प्रतिपादन शृङ्गार-रस में आता है। शृङ्गार-रस का स्थायी भाव रति अर्थात् प्रीति है। अन्य आठ रसों में कोई भी स्थायी भाव प्रेम की बराबरी नहीं कर सकता। शृङ्गार-रस के आलम्बन विभाव में यह विशेषता है कि नायक-नायिका में समान आकर्षण एव समता का भाव उसमें रहता है।

मतिराम ने रसराज शृङ्गार-रस को ही चुना और उसका वडा सरस और सुन्दर वर्णन किया है। पति के मुख से नायिका जब अन्य स्त्री का नाम सुनती है, जिससे नायक का उस स्त्री पर अनुरक्त होना समझ पडता है, तो वह मान करती है। इस पद में देखिए—

दोऊ अनन्द सो आँगन माँझ विराजे असाढ की साँझ सोहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई अनै मत सें हँसि कोपि तिया सरचाप-सी भौंहे चढाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद सुहास गयो उडि हंस की नाई॥

एक दिन आषाढ़ की सन्ध्या को दम्पति आनन्द से बैठे थे। बातो ही बातों में पति के मुख से अन्य स्त्री का नाम निकल गया। बस, सारा आनन्द किरकिरा हो गया। नायिका मान कर बैठी। उसकी भौंहे तन गईं। आंखो से आंसू की बूंदें गिरने लगीं। हास्य का कहीं पता ही न रहा।

मतिराम जी ने मान-प्रकाशक, भ्रू-सकोच, अश्रुपात तथा हास्यभाव की उपमा ऐसी चीजों से दी है, जिनके वर्षा के साथ वर्णन में ही विशेषता है। वर्षाकाल का इन्द्रधनुष भौंहो के चढने में देख पडा। आंसू गिरने क्या लगे, मेंह झरने लगा और पावस में जैसे हस भाग जाते हैं वैसे ही हास्य भी विदा हो गया। हास्य और हंस का श्वेत रग कितना अनुरूप है।

सात्त्विक भावो का वर्णन मतिराम ने बडे अच्छे ढग से किया है। प्रियतम के प्रत्यक्ष होने के उपरान्त उनकी मधुर मुस्कान नायिका के मन में घर कर गई और वह सदा उसी के ध्यान में रहती है। उसके शरीर की संचालन-शक्ति वन्द हो गई है—

जा दिन ते छवि सो मुस्कान कहूँ निरखे नन्दलाल विलासी,
ता दिन ते मन ही मन में मतिराम पियें मुस्कान सुधा सी।
नैकु निमेष न लागत चैन चकै चितवै तिय देवतिया सी,
चन्द्रमुखी न चलै न हलै निरवात निवास में दीपसिखा सी॥

विरह-वर्णन—देव तथा विहारी की तरह विरह-वर्णन का तो अपना क्षेत्र न्यारा है परन्तु मतिराम ने विरह-वर्णन में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। विरहिणी के निकट आने में नींद भी भय खाती है। वह देखती है कि नेत्रों के अविरल अश्रु-प्रवाह को पार किये विना नेत्रो तक पहुँचना आसान नहीं है। पर नींद में इतना साहस नहीं। विरहिणी को नींद न आने का कारण कैसा अनुपम है—

अँसुअन के परवाह में, अति बूडिये डराति।
कहा करै नैनानि को नीद नही नियराति ॥

विरहिणी की दशा ग्रीष्म ऋतु की सरिता के समान है। जैसे ग्रीष्म में सरिता का जल सूखने लगता है, उसी तरह विरहिणी का जीवन क्षीण हो रहा है। वर्षा आने पर घनश्याम (बादल) रस (जल) बरसा कर सरिता को जलमय कर देते हैं, उसी प्रकार घनश्याम (कृष्ण जी) रस-वृष्टि करके मृतप्राय विरहिणी को जिला सकते हैं।

वाल अलप जीवन भई ग्रीषम-सरिस सरूप।
अब रस परिपूरन करो तुम घनश्याम अनूप ॥

भाषा-सौन्दर्य—पाठक तथा लेखक और कवि के बीच सामजस्य कराने वाली भाषा ही है। किसी कवि तथा लेखक की सफलता उसी में है कि वह अपने भावो की अभिव्यक्ति को इतनी स्पष्ट भाषा में करे कि पाठक उसका रसपान कर सके। भाषा के माध्यम से अपना अभिप्राय पाठक तक ठीक और स्वाभाविक प्रवाह से पहुँचाने में ही कवि की सफलता आश्रित है। कवि में भाषा को आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार अपने अनुकूल बनाने का सामर्थ्य होना चाहिए।

मतिराम की भाषा व्रज है। इस भाषा के कवियो में जहाँ तक भाषा-सौन्दर्य का सम्बन्ध है वहाँ तक कविवर मतिराम से बढकर अच्छी भाषा लिखने में कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि

सूर, तुलसी, देव, बिहारी और पद्माकर आदि कवियों से भाषा-सौन्दर्य में मतिराम पीछे नहीं हैं। मतिराम के बराबर भाषा-सौन्दर्य वाले कवि तो अवश्य हैं पर उनसे बढ़कर कोई भी नहीं है।

नायिका के सौन्दर्य का वर्णन इस कुशलता से किया है कि थोड़े ही शब्दों में पूरे सौन्दर्य का वर्णन हो गया है। जिस भाषा द्वारा इस सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, वह इसे पूर्ण रूप से प्रकाशित करने में समर्थ हुई है—

कुन्दन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासिन्ह की सरसाई॥
को बिनमोल बिकात नही मतिराम लहै मुस्कानि मिठाई।
ज्यो-ज्यो निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यो-त्यो खरी निकरै-सी निकाई॥

थोड़े ही शब्दों में सब कुछ कह दिया है। काव्य-शास्त्र का सुप्रबन्ध, शब्द-योजना, प्रसाद, गुण सभी एक-साथ उपस्थित हो गये हैं। कुछ और उदाहरण देखिए—

(१) कोउ कितेक उपाव करौ कहुँ होत हैं आपने पीय पराये।
(२) और भटु न भई कछु बात गई इतने ही में नीद निगोड़ी।
(३) आजु को रूप लखे ब्रजराज को आँखिन को फल आजु ही पायो।
(४) कौन तिन्हे दुख है जिनके तुमरे मनभावन छैल-छबीले।
(५) तै बरने निज बैननि सो सखि, मैं निज नैननि सो मनु देखे।

अलंकार-चमत्कार—

कवियों की कृतियो में जो चमत्कार आता है उसका कारण उनकी अलकार-योजना है। मतिराम में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण बड़े ही अच्छे बन पड़े हैं। विषम अलंकार का उदाहरण देखिए—

सेत सारी ही सो सब सौतें रगी स्याम रग,
सेत सारी ही सो रगे स्याम लाल रग में।

नायिका ने श्वेत साड़ी धारण की। उसके प्रभाव से सपत्नियों के शरीर

में श्यामता छा गई और इसी श्वेत साडी के प्रभाव से श्यामसुन्दर रग (अनुराग) में रग गये।

अर्थान्तरन्यास का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

रावरे नेह को लाज तजि अरु गेह के काज सबै बिसराये।
डारि दियो गुरु लोगनि को अरु गॉव चवाय में नाम धराये॥
हेत कियो हम जो तौ कहा तुम तौ मतिराम सबै ठहराये।
कोऊ कितेक उपाय करौ कहुँ होत हैं आपने पीय पराये॥

इसके अन्तिम पद में जिस सामान्य का कथन किया गया है, उसका समर्थन पहिले तीन पदो में कही गई बातों से किया गया है। अन्तिम पद में जो झिडकी है वह बडी सुकुमार मृदुल और रसीली है।

मतिराम जी के अधिकाश छन्दो में कला का नैपुण्य तो बहुत अधिक पाया जाता है पर तन्मयता की उचित मात्रा उनके थोडे ही छन्दों में पाई जाती है। इनके बहुत से शृङ्गार-वर्णन में अश्लीलता की स्पष्ट झलक दिखाई पडती है। इनकी कविता में प्रकृति-वर्णन बहुत ही कम पाये जाते हैं। निम्नलिखित छन्द में काव्य-नैपुण्य देखिए—

प्रान पियारो मिलो सपने में परी जब बेसुध नीद निहोरे,
नाह को आइबो त्योंही जगाय सखी कह्यो बैन पीयूप निचोरे।
यो मतिराम बढ्यो हिय में सुखबाल के बालम सो दृग जोरे,
जैसे मिही पट में चटकीलो चढै रग तीसरी बार के बोरे॥

पिंगल—सात भगण और अन्त में दो गुरु होने के कारण यह मालती नामक सवैया छन्द है।

रस—आलम्बन विभाव नायक एव नायिका हैं। नायिका आगत-पतिका है, क्योंकि उसका पति परदेस से आया है। वह प्रौढा है, क्योंकि बालम से दृग मिलाती है। बालम-वियोग से दुखी रहती है और उसके आने से सुख बढ रहा है, इससे वह स्वकीया सिद्ध होती है। सखी का प्रिय-आगमन का सन्देश तथा स्वय नायिका की आँखों का नायक की आँखों

से मिलना उद्दीपन विभाव है। ज़रा-सी नींद पड़ने पर प्राणप्यारे के मिलन का स्वप्न सञ्चारी है। मिलन के बाद हृदय में सुख का बढ़ना मानसिक अनुभाव है। स्थायीभाव रति है। इस प्रकार पूर्ण संयोग शृङ्गार का रूप पाया जाता है।

इस छन्द में एक भी शब्द व्यर्थ का नहीं है—व्यर्थ का होना तो दूसरी बात है, ऐसा शब्द भी ढूंढना कठिन है जिसको हटाकर दूसरा शब्द रखा जा सके और चमत्कार में कमी न आये।

मतिराम की जानकारी—

कवियों का ज्ञान बहुत ही विस्तृत होता है। वे ससार की सभी लौकिक तथा अलौकिक बातों का ध्यान रखते हैं और समयानुसार उनसे पूरा लाभ उठाते हैं।

समुद्र में ज्वारभाटा आता है परन्तु वह अपनी एक निश्चित सीमा से आगे कभी नहीं बढ़ता। वहां पहुँचकर पानी पीछे ही लौट जाता है सीमा को लाँघकर नहीं बहता। उस सीमा से पार के व्यक्तियो को ज्वारभाटे से कोई भय नहीं। ज्वारभाटे के इस खिलवाड मे मतिराम परिचित थे। लज्जा के वश मुग्धा सुन्दरी के विरह का बडा ही हृदयस्पर्शी दृश्य है। आंसू उमड़ पड़ते हैं पर लज्जावश सुन्दरी उनको नेत्रों में ही विलीन कर लेती है; बाहिर आंसू नहीं टपकते। ज्वारभाटा और मुग्धा स्त्री के अश्रु-प्रवाह में कितना साम्य है—

पिय-वियोग-तिय दृग जलधि जलतरंग अधिकाय।
बरुनि मूल वोला परसि बहुरयो जाति विलाय॥

तारों का टूटना अमांगलिक समझा जाता है और भावी उत्पात का सूचक माना जाता है। नायिका के नेत्रों से आंसू यथा गिर रहे हैं मानो तारे टूट-टूटकर गिर रहे हैं, जिससे भावी अनिष्ट की आशंका है।

हौं न कहत तुम जानिहौ लाल बाल की बात।
अँसुआ उडुगन परत है होन चहत उत्पात॥

मतिराम की सूक्तियों ने उनकी रचनाओं में एक विशेषता ला दी है। कृष्ण की मुरली क्या बज रही है वरन् उनके अधरों की माधुरी ही नाद रूप में निकल कर चारो ओर व्याप्त हो रही है—

सुनि सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सब सवाद।
कढी अधर की माधुरी ह्वै मुरली को नाद॥

नायिका को छत पर देखकर, चचला की चपलता का त्याग और चन्द्रमा का निष्कलक होने की उक्तियों का किस हस्तलाघव के साथ परिचय दिया है।

अटा ओर नँदलाल उत निरखी नैंक निमक।
चपला चपलाई तजी, चन्दा तज्यो कलक॥

ब्राह्मण तथा ब्राह्मणी दोनों को सुधा-भोजन कराना बडा पुण्यमय है—सखी नायिका को यही सलाह देती है; क्योंकि भोजन तो सहज सुलभ है। और उसके अधरो में सुधा भोग है। बस अधरामृत पान कराने से ब्राह्मण को भोजन कराने की अपेक्षा अधिक पुण्य होगा। 'दुज' (द्विज) दांत को भी कहते हैं। सारे दांत मुख के आश्रित हैं अत मुख द्विजराज है। 'द्विजराजी' दांतों की पक्ति को कहेंगे। यों दुजराज और दुजराजिनी का अभिप्राय दतयुक्त मुख से है। ऐसे मुख का न्योता उसी अधरामृत पान का होगा—

अली तिहारे अधर में सुधा भोग को साज।
दुजराजिनि-जुत न्योतिये लाल वदन दुजराज॥

मतिराम का साहित्य में स्थान—

किसी कवि का साहित्य-निर्माण में स्थान निश्चित करना कोई आसान कार्य नहीं है। उसकी समस्त रचनाओं पर विचार करना पडता है—उसका साहित्य के विकास में कितना योगदान है। मतिराम की समस्त रचना सार्थक है और उसका प्रत्येक पद उनकी कवित्व-शक्ति

और काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है। प्रत्येक पद में उनकी अपनी मौलिकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं--"भारतीय जीवन से छांट कर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं ·· रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों मे पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि केवल उन्होंने (बिहारी ने) दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौन्दर्य नहीं आ सका जो (मतिराम में) कवित्त-सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।"
